आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च

विवेक-शिखा

वर्ष–१८ सितम्बर-नवम्बर–१९९९ अंक–९-१०-११

स्वामी भूतेशानन्द स्मृति अंक

मूल्य १५/–

रामकृष्णनिलयम,
जयप्रकाशनगर,
छपरा (बिहार)

इस विशेषांक में

		पृष्ठ
१. श्री रामकृष्ण ने कहा है	विश्वसार तन्त्रम्	१
२ गुरु स्तोत्रम्	(सम्पादकीय सम्बोधन)	२
३. देवतात्मा को नित्य नमन्	स्वामी भूतेशानन्द	३
४. बचपन की यादें		१०
संस्मरण		
१. श्री रामकृष्ण की प्रतिमूर्ति	स्वामी आत्मस्थानन्द	१४
२. एक बल : एक भरोसा	स्वामी स्मरणानन्द	१६
३. अलौकिक जीवन की झलक	स्वामी लोकेश्वरानन्द	१९
४. हृदय देवता	डा० के०बी० बक्सी	२१
५. स्नेह-स्पर्श	डा० विमलेन्दु मुखर्जी	२५
६. मूर्ख के महापुरुष	डा० शैबाल गुप्त	२८
७. श्री गुरुदेव के सान्निध्य में	स्वामी आत्मनिष्ठानन्द	२९
८. त्वमेव माता	श्री सुकुमार कुण्डु	३३
९. जय गुरुदेव (कविता)	शोभा मनोत	३५
१०. सद्गुरु की शरण में	स्वामी नित्यज्ञानानन्द	३५
११. एक अत्यन्त सरल व्यक्तित्व	स्वामी उरुक्रमानन्द	३९
१२. भक्त वत्सल के चरणों तले	मंजु नन्दी मजूमदार	४१
१३. एक स्मरणांजलि	प्रो० डॉ० जनक भाई दबे	४५
१४. एक लोकोत्तर महाजीवन	स्वामी सर्वभूतानन्द	४९
१५. अलौकिक आकर्षण	ज्योत्सना चौधरी	५१
१६. कुछ अविस्मरणीय संस्मरण	श्रीमती मिन्टू बहन दासाणी	५५
१७. अहेतुक कृपा सिन्धु	श्री प्रताप भाई	६०
वार्तालाप एवं साक्षात्कार		
१. मार्ग दर्शन	स्वामी जितेन्द्रानन्द	६५
२ स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज से वार्तालाप	स्वामी निखिलेश्वरानन्द	७१
वाणी और रचना		
१ ध्यान एवं श्रीरामकृष्ण चिन्तन	श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी	८
२. गुरु तत्त्व	श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द	८१
पत्रोत्तर		
१. श्री अभय के नाम		९

SWAMI BHUTESHANANDAJI MAHARAJ

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की हिन्दी मासिकी

वर्ष—१८ सितम्बर-अक्टूबर-नवम्बर—१९९९ अं० ९ १ ११

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

सम्पादक :
डा० केदारनाथ लाभ

सहायक सम्पादक :
ब्रजमोहन प्रसाद सिन्हा

सम्पादकीय कार्यालय :
विवेक शिखा
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर
छपरा—८४१३०१
(बिहार)
फोन : ०६१५२-२२६३९

सहयोग राशि :

आजीवन सदस्य—	७०० रु०
वार्षिक—	५० रु०
रजिस्टर्ड डाक से	६५ रु०
एक प्रति—	५ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

☐ चाहे जो व्यक्ति गुरु नहीं हो सकता। जब एक बड़ा भारी शहतीर पानी पर तैरता है तो उस पर पशु भी बैठकर आगे निकल जाते हैं। किन्तु एक सड़ियल लकड़ी के टुकड़े पर यदि कौआ भी बैठ जाय तो वह उसको लेकर डूब जाती है। इसीलिए प्रत्येक युग में मानव जाति को शिक्षा देने के लिए भगवान गुरु रूप में अवतीर्ण होते हैं। एक मात्र सच्चिदानन्द ही गुरु हैं।

☐ यदि कोई ठीक ठीक आन्तरिकता तथा प्राणों की व्याकुलता के साथ भगवान् को पुकार सके तो उसके लिए गुरु की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु, साधारणतः हृदय की इतनी तीव्र व्याकुलता नहीं दिखाई देती, इसीलिए गुरु की आवश्यकता है।

☐ यदि ईश्वरतत्त्व को खोजना हो तो मनुष्य में खोजो। मनुष्य के ही भीतर वे सबसे अधिक प्रकाशित होते हैं। जिस मनुष्य के भीतर देखो कि प्रेम भक्ति उमड़ रही है, जो ईश्वर के प्रेम में मतवाला हो गया है; उनके लिए पागल हो गया है, उस मनुष्य में निश्चित ही ईश्वर अवतीर्ण हुए हैं।

☐ कुछ लोग होते हैं जो आम खाकर मुँह पोंछकर बैठे रहते हैं, ताकि कोई जान न पाए। पर कोई-कोई ऐसे भी होते हैं कि उन्हें यदि एक भी आम मिल जाए तो वे उसे काटकर सबको थोड़ा-थोड़ा बाँटने के बाद स्वयं खाते हैं। इसी प्रकार कुछ साधक होते हैं, जो ईश्वरदर्शन का आनन्द प्राप्त करने के बाद दूसरों को भी वह आनन्द चखाने का प्रयत्न करते हैं।

☐ गुरु की कृपा होने पर कोई भय नहीं है। वे तुम्हें बतला देंगे, तुम कौन हो, तुम्हारा स्वरूप क्या है।

श्री गुरु स्तोत्रम्

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ १

अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ २

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ३

स्थावरं जङ्गमं व्याप्तं येन कृत्सनं चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ४

चिद्रूपेण परिव्याप्तं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ५

सर्वश्रुतिशिरोरत्नं समुद्भासितमूर्तये ।
वेदान्ताम्बुजसूर्याय तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ६

चैतन्यं शाश्वतं शान्तं व्योमातीतं निरंजनम् ।
विन्दुनाद कलातीतः तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ७

ज्ञान भक्ति समारूढः तत्त्वमाला विभूषितः ।
भुक्ति मुक्ति प्रदाता च तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ८

अनेक जन्म सम्प्राप्तं कर्मेन्धन विदाहिने ।
आत्मज्ञानाग्निदानेन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ९

शोषणं भवसिन्धोश्च प्रापणं सारसम्पदः ।
यस्य पादोदकं सम्यक् तस्मै श्री गुरवे नमः ॥१०

न गुरोरधिकं तत्वं न गुरोरधिकं तपः ।
तत्वज्ञानात्परं नास्ति तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥११

मन्नाथः श्री जगन्नाथो मद्गुरुः श्री जगद्गुरुः ।
मदात्मा सर्वभूतात्मा तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥१२

गुरुरादिरनादिश्च गुरुः परमदैवतम् ।
गुरोः परतरं नास्ति तस्मै श्री गुरवे नमः ॥१३

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्ति
द्वन्द्वातीतं गगन सदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधी साक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥१४

सम्पादकीय सम्बोधन

देवतात्मा को नित्य नमन्

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

रामकृष्ण संघ के द्वादश वन्दनीय अध्यक्ष पूज्य-चरण स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज की ब्रह्मलीनता की प्रथम वार्षिकी (८ सितम्बर, ९९) के अवसर पर विवेक शिखा का यह 'स्वामी भूतेशानन्द स्मृति अंक' प्रकाशित करते हुए हमें परम प्रसन्नता हो रही है। हमारा यह विनम्र प्रयास, अनेक त्रुटियों के बावजूद, आशा है, आपको पसन्द आयेगा।

स्वामी भूतेशानन्द। यह एक ऐसी संज्ञा है जिसमें अनेक भावों के वैशिष्ट्य समाहित होकर इसे सिन्धु का स्वरूप प्रदान करते हैं। स्वामी भूतेशानन्द, केवल एक नाम नहीं है बल्कि गहन-गंभीर ज्ञान, तीव्र तपस्साधना, विलक्षण वैराग्य, कठोर कर्मशीलता, अद्भुत् आनन्द, महत्तम मनुष्यत्व एवं सर्वाश्रयी गुरु-भाव का समवेत शैल-शिखर है जिसकी ऊँचाई तक हमारे बौने हाथ नहीं पहुँच पाते किन्तु जिसकी शीतल-स्निग्ध मंदाकिनी की एक बूँद का भी पान कर हमारे ताप-तप्त मन-प्राण अविलम्ब जुड़ा कर अक्षय आनन्द-धाम में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। लक्षाधिक नर-नारियों ने उनसे मंत्राभिषिक्त होकर जीवन की धन्यता प्राप्त की है, अनगिनत प्राणियों ने उनका स्नेहिल संस्पर्श प्राप्त कर कृतकृत्यता प्राप्त की है तथा कितने ही लोगों ने उनके दैवी सान्निध्य एवं साहचर्य की अश्वत्थ-छाँह में रहकर अपने जीवन को आमूलचूल रूपान्तरित कर ईश्वरोन्मुखी तथा धर्मपरायण बनाया है। महाकवि कालिदास ने गिरिराज हिमालय को देवतात्मा कह कर सम्बोधित किया है—"अस्युत्तरस्याम् दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।" अर्थात् इसकी उत्तर दिशा में देवतात्मा हिमालय नामक पर्वतराज बिराजता है। यह हमारा सौभाग्य है कि हमारे ही काल में बेलुड़ मठ में देवतात्मा स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज नामक धर्म-अध्यात्म के नगाधिराज विराजते थे जिनके पावन दरस-परस से हमारे नयन पावन हुए हैं, हमारा जीवन शिवात्मक हुआ है, हमारा जन्म लेना सार्थक हुआ है। मैं उस सद्गुरु देवतात्मा सतत् स्मरणीय-वन्दनीय स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज के श्री चरणों में सर्वप्रथम सश्रद्ध प्रणाम निवेदित करता हूँ।

आइए, हम उनकी संक्षिप्त जीवन-छवि का अवलोकन करें।

स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज का जन्म पश्चिम बंगाल के बाँकुड़ा जिलान्तर्गत सोमसार ग्राम में भादव कृष्ण एकादशी, रविवार तदनुसार ८ सितम्बर, १९०१ ई० को संध्या ७ बजे हुआ था। जन्म-पत्री के अनुसार इस मुहूर्त में जन्म-ग्रहण करने वाला बालक लोक-गुरु के रूप में प्रतिष्ठित होगा। विद्या, तपः शक्ति, हृदयवत्ता और अपनी आध्यात्मिक विभूति से वह पृथ्वी के अनगिनत व्यक्तियों के हृदय-मन पर राज करेगा। इसलिए इस बालक का नाम रखा गया—विजय। पूरा नाम विजय चन्द्र

राय। पिताश्री का नाम था पूर्णचन्द्र राय और माताश्री का नाम था—सुशीला। विजय चन्द्र अपने माता-पिता के एकमात्र पुत्र थे।

सोमसार दामोदर नदी के तट पर स्थित एक शान्त, स्निग्ध सुन्दर गाँव है। उस गाँव का नाम ग्राम-देवता स्वयम्भू लिंग भगवान 'सोमेश्वर' के नाम पर सोमसार रखा गया था। विजय चन्द्र के माता पिता भक्त, सत्यनिष्ठ और करुणाशील थे।

आठ वर्ष की उम्र में विजय चन्द्र—कालान्तर में स्वामी भूतेशानन्द—ने अपने गाँव की पाठशाला में अक्षराम्भ किया।

बचपन से ही उनमें संसार के प्रति उदासीनता और अन्तर्मुखता के भाव परिलक्षित होने लगे। गाँव की पाठशाला में प्रतिवर्ष प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होते रहे। चौथी कक्षा में उत्तीर्ण होने के उपरान्त कलकत्ते में पढ़ने की योजना बनी। इसी बीच उन्होंने गिरीशचन्द्र घोष लिखित 'पूर्णचन्द्र' नाटक पढ़ लिया था और तय कर लिया था कि वे वैराग्य और संन्यास का जीवन व्यतीत करेंगे।

१९१३ ई० में कलकत्ते के विद्यासागर स्कूल में उन्होंने पंचम वर्ग में दाखिला लिया। अपने मामा के घर पर रहने लगे। स्कूल से लौटने पर अपराह्न में वे गंगा तट पर टहलने जाया करते। एक दिन उन्होंने देखा कि गंगा तट पर कुछ छात्र बैठकर भजन कर रहे हैं। स्कूल के शिक्षक शरत चन्द्र चक्रवर्ती गान सिखा रहे हैं। वे भी वहाँ बैठ गये। भजनोपरान्त सभी एक मकान में गये। मकान के ऊपर शिव-मन्दिर था। विजय चन्द्र वहाँ नित्य जाने लगे। फिर मास्टर साहब के कहने पर वे मन्दिर में नित्य पोछा लगाने लगे। मन्दिर के नीचे के कमरे में एक आलमारी थी। उसमें रामकृष्णा-वचनामृत, लीला प्रसंग, स्वामी जी का कर्मयोग, भारत में विवेकानन्द गीता भागवत आदि कुछ पुस्तकें थी। इन्हें पढ़कर रामकृष्ण भावधारा से इनका प्रथम परिचय हुआ। अब वे रात में भी वहीं रहने लगे और पाठ्य पुस्तक पढ़ने के उपरान्त जप-ध्यान करने लगे। वहाँ से वे प्रायः श्री माँ सारदा देवी के निवास-स्थल 'मायेर बाड़ी' जाने लगे जहाँ उन्हें श्रीरामकृष्ण के लीला पार्षद—स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द, स्वामी अद्भुतानन्द, स्वामी प्रेमानन्द, स्वामी विज्ञानानन्द आदि का सान्निध्य प्राप्त होने लगा।

१९१८ ई० के २४ दिसम्बर को श्री माँ सारदा देवी की जन्म तिथि थी। ज्ञान महाराज के साथ वे मायेर बाड़ी पहुँचे और श्री श्री माँ के चरणों का दर्शन और स्पर्श करने का सौभाग्य प्राप्त किया।

१९२० ई० से ज्ञान महाराज के आश्रम में वे रहने लगे। १९१९ ई० में ही उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा में सात में से पाँच विषयों में 'स्टार' मार्क प्राप्त कर उत्तीर्णता प्राप्त की। इसके पूर्व ही एकाध बार में बेलुड़ मठ जा चुके थे। १९२१ ई० में 'मायेर बाड़ी' में स्वामी सारदानन्द ने उन्हें मंत्र-दीक्षा दी। १९२३ ई० के ३० दिसम्बर (रविवार) को श्रीमाँ की जन्म तिथि के दिन बेलुड़ मठ के पुराने ठाकुर घर में प्रातः साढ़े नौ बजे स्वामी शिवानन्द महाराज ने इन्हें ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी। अब इनका नाम हुआ—प्रियचैतन्य। अब इनका संघ जीवन शुरू हुआ। इसके पूर्व उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्द,

स्वामी अद्भुतानन्द और स्वामी तुरीयानन्द का दर्शन किया था। किन्तु संघ में योगदान करने के समय वे सब दिवंगत हो चुके थे।

स्वामी तुरीयानन्द ने उनके समक्ष कहा था—'साधन का जो अहंकार साधक को भगवान से दूर रखता है उसे चूर्ण करना ही साधन का लक्ष्य है।' फिर कहा था—'ध्यान करने के लिए बैठने के समय मन के दरवाजे पर लिख दो—No Admission—'प्रवेश निषेध'—यानी अभी यहाँ दूसरे प्रकार के चिन्तन को प्रवेश का अधिकार नहीं है। अहंकार, अभिमान, स्वार्थपरता, हताशा, दैन्य, नीचता, संकीर्णता, दुर्बलता आदि का प्रवेश निषेध है।

स्वामी अद्भुतानन्द अर्थात् लाटू महाराज का दर्शन उन्हें कम ही हुआ था तथापि उनकी अद्भुत तितिक्षा, वैराग्य और सरलता ने इन्हें गंभीर रूप से प्रभावित किया था।

मठ में उन दिनों खूब शास्त्र चर्चा होती। स्वामी शुद्धानन्द जी से विजय चन्द्र ने उपनिषद् पढ़ी थी। तारासार पण्डित से न्याय, मीमांसा, वेदान्त-दर्शन, गीता और पंचदशी का अध्ययन किया। शुद्धानन्द जी की कक्षा में वृहदारण्यक उपनिषद् पढ़ने कुछ दिनों तक स्वयं स्वामी शिवानन्द महाराज भी आया करते थे।

शास्त्रों के अध्ययन के साथ ही उनका साधन-भजन भी उसी गति से चलता रहा। रात-रात भर ध्यान-जप किया करते थे। दिन में भी विश्राम नहीं। शास्त्र पाठ करते, सुबह ठाकुर की पूजा के बर्तन माँजते, ठाकुर-भण्डार में कार्य करते और बाजार का हिसाब रखते। महापुरुष महाराज से उन्होंने सुन रखा था, 'ठाकुर ने जिस प्रकार स्वामी जी को समाधिमग्न नहीं होने दिया, उसी प्रकार स्वामी जी भी नहीं चाहते कि उनके गुरुभ्रातागण मात्र जप-ध्यान में ही निमग्न रहें।'

१९२६ में मेदिनीपुर में भीषण बाढ़ आयी। अनेक लोग गृह विहीन हो गये। उस समय विजय चन्द्र यानी ब्र० प्रिय चैतन्य ने स्वामी निर्वाणानन्द के साथ राहत कार्य किया।

१९२८ ई० की २३ फरवरी, गुरुवार के दिन भगवान श्रीरामकृष्ण की पुण्य जन्म तिथि के पावन अवसर पर बलुड़ मठ के पुराने ठाकुर-घर में रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वामी शिवानन्द जी महाराज ने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी। १९२३ ई० में श्री श्री माँ के आविर्भाव-दिवस पर ब्रह्मचर्य की दीक्षा लेने पर विजय चन्द्र का नाम हुआ था—प्रिय चैतन्य। और १९२८ ई० में श्री श्री ठाकुर के अवतरण-दिवस पर संन्यास में दीक्षित होने पर प्रिय चैतन्य का नामकरण हुआ—स्वामी भूतेशानन्द। विजय चन्द्र 'चैतन्य' सागर से निकल कर आनन्द के शैल-शिखर पर प्रतिष्ठित हुए। भगवान सोमेश्वर महादेव के नाम पर अवस्थित सोमसार ग्राम में जन्म लेकर विजय चन्द्र स्वामी भूतेशानन्द हो गये। मानो समस्त भूतों के मंगलमय आध्यात्मिक उत्थान के लिए भगवान सोमेश्वर ने ही स्वामी भूतेशानन्द का विग्रह धारण कर लिया। और तब से इस भौतिक शरीर की अन्तिम घड़ी तक वे भगवान भूतनाथ भोलेश्वर महादेव की भाँति समीपागत समस्त प्राणियों के प्राणों के दुःख दर्द का शमन किया, पाप-ताप से दग्ध मनुष्यों को शान्ति की शीतलता प्रदान की।

१९२७ ई० के ११ अगस्त को उनके मंत्र-दीक्षा गुरु स्वामी सारदानन्द जी महाराज का महाप्रयाण हो गया। स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज के मन-प्राणों में एक शून्यता भर गयी—तीव्र

शून्यता। उनकी इच्छा हुई उत्तर काशी जाकर तपस्या करने की। वे गये। पहली बार पहले काशी फिर उत्तर काशी। दो वर्षों तक सघन तपस्या की। लौटने पर १९३० के अन्त से १९३२ के मार्च तक डेढ़ वर्ष ढाका में थे। वहाँ से मठ लौटे और फिर मैसूर गये—स्टडी सर्कल में। वहाँ जाकर पण्डित ए० डी० एल० श्रीनिवास चैरियार से 'ब्रह्मसूत्र' का रामानुज भाष्य या 'श्री भाष्य' का अध्ययन किया। इसके पूर्व मठ में शांकर भाष्य और 'भामती' टीका के साथ ब्रह्मसूत्र पढ़ा ही था। मैसूर में स्वयं शास्त्र पढ़ते और साधुओं को पढ़ाते भी। मैसूर में छः महीने रहकर गये मद्रास (चैन्नई) मठ।

१९३४ ई० की २० फरवरी को रामकृष्ण मठ और मिशन के द्वितीय अध्यक्ष स्वामी शिवानन्द जी महाराज (महापुरुष महाराज) महासमाधि में लीन हो गये। स्वामी भूतेशानन्द जी तब मद्रास में थे। यह समाचार सुनकर वे मर्माहत हो गये। यद्यपि स्वामी सारदानन्द जी महाराज का उन्हें स्वल्प सान्निध्य मिला था तथापि उनका यथेष्ट स्नेह मिला था। परन्तु मठ में आने पर माता, पिता, सुहृद, गुरु—सबका एक साथ स्नेह, शासन और आशीर्वाद उन्हें मिला था महापुरुष महाराज से ही। अतः उनके स्वर्गत होने पर वे तुरन्त मठ आ गये।

स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज तृतीय संघाध्यक्ष हुए। उनसे आदेश लेकर १९३४ के मार्च में स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज पुनः उत्तरकाशी चले गये—तपस्या करने। वहाँ नित्य ढाई बजे रात उठकर हाथ-मुँह धो, जप-ध्यान में बैठते। जप अधिक नहीं। अधिक ध्यान ही करते। उन्होंने सोचा, शास्त्र पाठ बहुत हो चुका। अब केवल तपस्या करूँगा। ग्रंथों में केवल 'कथामृत', गीता और संगीत-संग्रह साथ में थे। जप-ध्यान के बाद गीता पढ़ा करते। फिर प्रातः सात बजे स्नान करते और फिर थोड़ी देर के लिए जप-ध्यान पर बैठते। ९ बजे प्रातः छत्र में जाते मधुकरी-भिक्षा के लिए। साढ़े दस बजे गंगा के तट पर बैठकर भिक्षा में प्राप्त भोजन ग्रहण करते। फिर कुटिया में लौट कर कुछ देर विश्राम। अपराह्न में कुठिया के निकट थोड़ा टहलते-घूमते। रात में खाते नहीं। एक वर्ष तक ध्यान करने के बाद मन को देखने की इच्छा हुई। मन को बिल्कुल छोड़ दिया। देखा, मन ठाकुर के चरणों में है।

१९३६ में वे मठ के शिलांग केन्द्र के अध्यक्ष हुए। फिर कुछ दिनों बाद ही वे चेरापुंजी केन्द्र के अध्यक्ष के पद पर १९४५ तक रहे।

१९४५ ई० के सितम्बर महीने में स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने राजकोट (गुजरात) आश्रम के सचिव का पद-भार ग्रहण किया। उक्त पद पर वे १९६६ के १४ मार्च तक करीब इक्कीस वर्षों तक बने रहे। उन दिनों राजकोट केन्द्र प्रायः बन्द होने की स्थिति में था। प्रायः ७५०००/- रुपयों का कर्ज आश्रम पर था। उस ऋण को धीरे-धीरे अदा कर आश्रम को सुव्यवस्थित करने की जो असाधारण दक्षता इन्होंने दिखायी, वह आज किंवदन्ती हो गयी है। उन्होंने राजकोट आश्रम को आर्थिक संकट से ही नहीं उबारा बल्कि उसे लोगों में सम्मान एवं जन-प्रियता भी प्रदान की। रामकृष्ण भाव धारा का प्रचार भी उन्होंने तीव्र गति से किया। उन्होंने ही सर्वप्रथम सम्पूर्ण विवेकानन्द साहित्य का गुजराती भाषा में अनुवाद करने की परिकल्पना की और उसे साकार रूप प्रदान किया। उन्होंने स्वयं गुजराती भाषा में दक्षता अर्जित कर ली थी। स्थानीय विद्वानों द्वारा

रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य का अनुवाद कराकर वे स्वयं उसका सम्पादन करते। गुजराती भक्तगण कहा करते—"आप हमलोगों से भी अच्छी गुजराती जानते हैं।" उनकी अध्यक्षता के समय ही गुजरात के मुख्य मंत्री, शिक्षा मंत्री एवं अनेक उच्च पदस्थ सरकारी पदाधिकारीगण रामकृष्ण आश्रम के कार्यकलापों की ओर आकृष्ट और श्रद्धाशील हो गये थे। उनके समय में ही राजकोट आश्रम में छात्रावास की स्थापना हुई। निकटवर्ती भूमि अधिगृहीत हुई। डिस्पेन्सरी भवन का उद्घाटन तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी ने किया था। असाधारण पाण्डित्य एवं प्रज्ञा सम्पन्न होने पर भी महाराज सर्वथा अहंकार रहित थे।

राजकोट की एक प्रसिद्ध संस्था द्वारा आयोजित सभा में एक विशिष्ट विद्वान वक्ता ने वेदान्त पर व्याख्यान दिया। भूतेशानन्द जी महाराज को सभा की अध्यक्षता करने के लिए बाध्य किया गया था। विद्वान वक्ता ने वेदान्त पर जो कुछ कहा उससे श्रोता क्षुब्ध हो उठे थे। पर सभी शान्त थे। अध्यक्ष की हैसियत से जब धीर-स्थिर भाव से स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज बोलने लगे तब उन्होंने वक्ता के प्रत्येक तर्क को ध्वस्त कर दिया। उस दिन उनके असामान्य शास्त्रज्ञान, क्षुरधार तर्कशक्ति एवं प्रखर लालित्यपूर्ण वाग्मिता से सभी मंत्र मुग्ध हो गये थे। उनकी प्रज्ञा से वक्ता हतप्रभ हो गये।

१९६५ ई० के दिसम्बर में स्वामी भूतेशानन्द जी रामकृष्ण मठ के न्यासी तथा रामकृष्ण मिशन की कार्यकारिणी समिति के सदस्य निर्वाचित हुए। १९६६ ई० के मार्च में वे मठ और मिशन के सहायक सचिव के रूप में राजकोट से बेलुड़ मठ चले आये। सहायक सचिव के रूप में नौ वर्षों तक रहकर वे मठ के साधु ब्रह्मचारियों के लिए आनन्द और प्रेरणा के स्रोत बने रहे। उनका धैर्य, स्थैर्य और मृदु भाषिता उनका स्नेहिल व्यक्तित्व, वचनामृत पर उनका रविवासरीय प्रवचन सबके लिए आकर्षण का ज्योतिर्मय स्तम्भ बन गये। उस समय स्वामी गंभीरानन्द जी महाराज मठ मिशन के महासचिव थे। उन्होंने कह रखा था—'यदि किसी को डांटना-फटकारना हो तो उसे मेरे पास भेज देना और किसी को यदि समझा-बुझा कर प्रेमपूर्वक कुछ कहना हो तो उसे भूतेशानन्द स्वामी के पास भेज देना।'

१९७५ ई० के अप्रैल महीने में मठ-मिशन के परम सहाध्यक्ष होकर स्वामी भूतेशानन्दजी म० काँकुड़गाछी के योगोद्यान मठ में चले आये। योगोद्यान मठ के वे अध्यक्ष थे। उसी वर्ष १६ मई को जगद्गुरु शंकराचार्य के पावन जन्म दिन पर उन्होंने प्रथम दीक्षा दान करना शुरू किया। उस दिन सात व्यक्तियों ने उनसे दीक्षा ग्रहण की। तब से उनका गुरु रूप शुरू हुआ।

स्वामी गंभीरानन्द जी की महासमाधि हुई १९८८ ई० के २७ दिसम्बर को। और २४ जनवरी, १९८९ को स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ और मिशन के द्वादश अध्यक्ष निर्वाचित हुए। शुरू हुआ उनका अभिनव कर्म-यज्ञ। साधु-ब्रह्मचारी, भक्त सबको दिशा-दर्शन करना उन्होंने आरम्भ किया। वे उन्हें सिखाते—सत्य वचन अवश्य बोलना, किन्तु सत्य कठोर न हो। सत्य बोलना धर्म है, किन्तु कठोर वचन बोलना अधर्म है। कठोर वचन बोलने से अपनी अहंकार-वृत्ति की ही तृप्ति होती है, उससे मनुष्यत्व के विकास में सहायता नहीं मिलती।" महाराज की सबसे बढ़कर आश्चर्यकारी विशेषता थी उनकी निरभिमानता, प्रचार-विमुखता तथा उनकी सर्वजयी प्रीति

परायणता, विलक्षण सहनशीलता, नियमबद्धता तथा निर्विकार उद्वेगहीनता। इस बीच स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने देश एवं विदेश के अनेक स्थानों की यात्रा कर अपने आध्यात्मिक प्रवचनों और मंत्र-दीक्षा के द्वारा हजारों जिज्ञासुओं की आंतरिक आध्यात्मिक पिपासा दूर की।

पू० महाराज बहुभाषाविद थे। बंगला, अंग्रेजी, संस्कृत के अलावा हिन्दी, गुजराती, खासी भाषाओं पर उनका असाधारण अधिकार था।

अब उनके भौतिक जीवन का सूर्य अस्ताचलगामी होने लगा। १९५७ में उनके गोल ब्लाडर का ऑपरेशन हुआ था। १९७९ ई० में अमरनाथ की यात्रा में कार्डियाक की समस्या आ खड़ी हुई तथा दिल्ली में बाथरूम में शिर में प्रचण्ड चोट लगी। १९८७ में हृदय में पेसमेकर लगाया गया। १९९१ ई० में बाईपास सर्जरी हुई। १९९३ ई० में प्रोस्ट्रेट का ऑपरेशन हुआ और १९९७ के मार्च में पाकस्थली में रक्तक्षरण शुरू हुआ। किन्तु कभी भी उनकी स्वाभाविक स्थितप्रज्ञता और रसबोधकता में रंच मात्र कमी नहीं आयी। अन्ततः १० अगस्त, १९९८ सोमवार को अपराह्न २ बजकर २८ मिनट पर उनके मुखमण्डल पर एक दिव्यानुभूति का ज्योति कलश छलक पड़ा। एक ज्योति की जाह्नवी महा ज्योति के गंगा सागर में विलीन हो गयी। विजयी वीर विजयचन्द्र—स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ९७ वर्ष की आयु में महासमाधि में लीन होकर श्रीरामकृष्ण-लोक में प्रतिष्ठित हो गये। सुसज्जित शोभा यात्रा निकली। वेदमन्त्र का पाठ हुआ तथा चन्दन-काष्ठ की प्रज्वलित अग्न-शिखा ने एक परम विदेही तपस्वी के विसर्जित स्थूल-शरीर को अपने में समाहित कर लिया।

पूज्यपाद महाराज ज्ञान, भक्ति और कर्म के सचल तीर्थराज थे, निरंजन प्रेम और विलक्षण वैराग्य के अधिराज थे, तथा पाण्डित्य और वाग्मिता के साथ ही आध्यात्मिक शक्ति की त्रिवेणी थे। मैंने उनमें माता-पिता, बन्धु, सखा और चिदानन्दमय सद्गुरु का एक साथ दर्शन किया था। इन सदानन्द महाप्राज्ञ पुरुष ब्रह्मज्ञानी का दर्शन एवं उनकी अमृतमयी वाणी का श्रवण कर उन वैदिक ऋषि की हठात् स्मृति हो आती है जिन्होंने स्वयं अमृत-सागर में गोता लगाकर मानो किसी पर्वत राज के उत्तुंग शिखर पर खड़े होकर मानव मात्र से पुकार-पुकार कर कहा था—

श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्य वर्णं तमसः परस्तात
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यते अयनाय ॥

आज मैं इस जगद्गुरु देवतात्मा स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज के श्री चरणों में विनत-भाव से सतत् अपना आन्तरिक नमन् निवेदित करता हूँ। जय ! गुरुदेव की जय !

श्रीमत स्वामि-भूतेशानन्द महाराजस्य स्मरणे

श्रद्धापुष्पाञ्जलिः

—एक ब्रह्मचारी
ब्रह्मचारी प्रशिक्षण केन्द्र
बेलुड़ मठ, हवड़ा

सारदानन्दस्य शिष्यो यः शास्त्रेषु विचक्षणः ।
आसीद् गुरुर्यः संघस्य भूतेशानन्दाय ते नमः ॥१॥

राज्ये पश्चिम बंगस्य बाँकुड़ायास्तु मण्डले ।
सोमसारे सुग्रामे हि तस्य जन्म अजायत् ॥२॥

चारुबाला देव्यासीत्तस्य माता श्री सुधर्मिणी ।
साऽसोद्विदुषी महती सहृदया जनानां प्रति ॥३॥

पूर्णचन्द्ररायनाम्ना ख्यातः तस्य पिता महान् ।
आसीत् स तु सदाचारी धर्मपारायणः सदा ॥४॥

विजयचन्द्रराये‌ति आख्याते बाल्य जीवने ।
आसीत् मेधावी सुशीलः वैराग्यगुण संयुतः ॥५॥

श्रीसारदायाश्चरणे समर्पयत् स्वजीवनम् ।
धन्यो बभूव विजयो दर्शनेन देव्या तया ॥६॥

ब्रह्मचर्यं संन्यासञ्च अविन्दत् स कृपया :
संघस्य महाध्यक्षेण स्वामि शिवानन्देन हि ॥७॥

विज्ञानी-भक्त-योगी च शरणापन्न ईश्वरे ।
युक्तिवादी सद्गुणी कुशाग्रबुद्धया संयुतः ॥८॥

उद्योगी च सेवाप्रेमी श्रद्धावान् श्रुतिधरः ।
दृढ़निश्चयी सत्पथि आज्ञापालन तत्परः ॥९॥

भक्तानाञ्च हृदयेषु अध्यात्मज्ञान प्रेरकः ।
दुर्बलेषु जनेषु च आशाशक्तिं संचारकः ॥१०॥

संघगुरोश्चरणेऽहं व्रजामि
लोकगुरोः शरणेऽहं गच्छामि ।
भवमुक्तिदातुराश्रयं नमामि
भूतेशानन्दाय अहं नमामि ॥११॥

★

बचपन की यादें

—श्रीमत स्वामी भूतेशानन्द
संकलक : स्वामी ऋतानन्द (बेलुड़ मठ)
अनुवादक : डॉ० केदारनाथ लाभ

कलकत्ता से जब अपने गाँव जाता तब अठारह मील पैदल जाता। बाँकुड़ा तक ट्रेन से। इसके बाद अठारह मील पैदल। पैदल माने क्या, झटक कर जाता। माँ (गर्भधारिणी) के पास जाता न! इसलिए जितनी जल्दी जाया जाय उसकी चेष्टा करता। इसी से झटक कर तेजी से जाता। वह घर से स्टेशन बैल गाड़ी भेजती। मैं कहता, 'बैल गाड़ी नहीं भेजना है, मैं पैदल ही जाऊँगा।'

एक बार बैलगाड़ी नदी में उतर गयी। दोनों बैल पानी में बह रहे हैं। मैं बैलगाड़ी पर बैठा हूँ। बैलगाड़ी चला रहा हूँ।

जिससे रात के अँधेरे में नहीं चलना पड़े, इसलिए समय देख समझ कर निकलता। जो ट्रेन सुबह बाँकुड़ा पहुँचती उसी ट्रेन से कलकत्ते से जाता। इसके बाद दिन में पैदल चलता।

इसके अलावे भी बागबाजार से दमदम (केष्टोपुर) तक पैदल फूल तोड़ने गया हूँ। केवल दमदम ही क्यों? बागबाजार से पैदल अनेक बार दक्षिणेश्वर गया हूँ। उन दिनों मठ भी पैदल ही जाता। मठ आने में दो पैसे खर्च होते थे। पैदल बागबाजार से अहीरी टोला घाट। अहीरी टोला घाट से एक पैसा देकर पार होकर सलकिया आता। फिर पैदल। आते-जाते गंगा पार करने में एक पैसा और एक पैसा कुल दो पैसे। कुठी घाट आकर चढ़ने पर चार पैसे खर्च होते। इस घाट पर भाड़ा था दो पैसे। इसी से वहाँ जाकर अहीरी टोला से गंगा पार करता।

गाँव जाने पर पिताजी खेत-पथार दिखाते। खेत सब एक जगह तो थे नहीं, विभिन्न दिशाओं में फैले थे। पिताजी मुझे साथ लेकर वह सब दिखाते। मैं कहता, वह सब देखकर मैं क्या करूँगा। वे क्यों ऐसा करते थे, कौन जाने? पिताजी ने एक बार मुझसे कहा था, तुम यदि साधु ही होओगे तो आखिर मैंने यह सब (जमीन-जायदाद) किसके लिए किया? मैंने कहा था, 'मैंने क्या आपको यह सब करने के लिए कहा था?' दो चाचा थे। एक को लड़के-बच्चे थे और एक को नहीं थे। जिन्हें लड़के-बच्चे नहीं थे उन्होंने मुझ से कहा, 'देखो, तुम जब ये सारी सम्पत्तियाँ नहीं लोगे, तो मुझे तो कोई लड़का-बच्चा है नहीं, मुझे कौन देखेगा, तुम यह सब मुझे दे दो।' और जिन चाचाजी को लड़के-बच्चे थे उन्होंने कहा, 'उसे देकर क्या होगा? उसे तो कोई लड़का बच्चा है नहीं, कौन भोगेगा? मुझे लड़के-बच्चे हैं। मुझे दे दो।' दोनों व्यक्तियों के तर्क प्रबल थे। मैंने कहा, 'वे सारी चीजें तो किसी काल में मेरी नहीं हैं, मैं कैसे दूँगा? किसी को नहीं दी गयी।'

हमारे स्कूल के शिक्षक महोदय किसी तरह क्लास को नियंत्रित नहीं रख पाते थे। लड़के सब खूब शोरगुल करते। और वे (शिक्षक) तब क्लास छोड़कर चले जाते। एक दिन ऐसी ही स्थिति में शिक्षक महोदय के क्लास छोड़कर जाते ही, उधर होकर हेडमास्टर साहब जा रहे थे। शोरगुल सुनकर मुझे सामने पाकर उन्होंने पूछा, 'क्या हो

रहा है ?' मैंने झटपट उत्तर दिया, 'मास्टर साहब भाग गये हैं।' मेरा ऐसा उत्तर सुनकर हेडमास्टर साहब ने कहा, तुम्हारे द्वारा इस प्रकार के शब्द का प्रयोग करना क्या उचित हुआ ?' अपनी गलती समझने पर तुरन्त मैंने कहा, 'नहीं सर, गलती हो गयी है।' एक बार संस्कृत की परीक्षा में धातु रूप का उत्तर सही रूप से मालूम नहीं था। बगल का लड़का उत्तर लिख रहा है। मैं उसकी कॉपी की ओर देख रहा हूँ। उसे देखकर अब लिखूँगा ऐसा सोचते ही मन में हुआ कि यह क्या कर रहा हूँ ? यह तो चोरी करना होगा। मैंने नहीं लिखा।

मैं ज्यादा खरीद-फरोख्त नहीं करता। फिर भी बचपन में बीच-बीच में बाजार जाता। यद्यपि मैं बहुत अमीर नहीं था तथापि बाजार जाने पर उत्तम चुनिंदा वस्तुएँ खरीदता, चाहे उनकी कीमत कितनी भी क्यों न हो।

एक बार गिल्ली डंटा खेलते समय गोली खूब जोर से आकर मेरी आँख के ठीक नीचे लगी। तड़तड़ खून निकलने लगा। साथियों के द्वारा मुझे लादफाद कर ले जाना चाहने पर मैंने कहा, मैं पैदल ही जाता हूँ। घर आते ही ज्येष्ठ-श्रेष्ठ लोगों द्वारा डाक्टर के यहाँ ले जाने पर डाक्टर बाबू ने जोर-जोर से उस जगह को साफ कर दवा लगाकर पट्टी बाँध दी। यह अभी भी याद है। बड़ा दर्द हुआ था। सिर ऐसा झनझना रहा था कि लगता था प्राण निकल जाएँगे। मन में एक बड़ी जिद थी कि रंच मात्र भी रोऊँगा नहीं या चीत्कार नहीं करूँगा। सचमुच दाँत पीस कर सहन किया था। केवल बाद में आँखों के दोनों कोने से दो बूंदें टप-टप कर बह चली थीं।

औरतें जब कहती हैं, 'महाराज, और नहीं कर पाती हूँ। बच्चा बहुत शैतानी करता है। मैं कहता हूँ, 'और करे।' यह सुनकर वे हँसती हैं। स्वभावतः स्त्रियाँ मन ही मन चाहती हैं, बच्चे थोड़ी बदमाशी करें। बचपन में मैंने बदमाशी नहीं की, ऐसी नहीं है। किन्तु याद नहीं है कि मैंने कभी मार खायी। माता-पिता ने कभी मुझे मारा नहीं। केवल एक बार बिना अपराध के ही स्कूल में एक मास्टर साहब ने पीटा था, यह याद है। उन दिनों हाई स्कूल में पढ़ता था। एक दिन पता नहीं क्यों मास्टर साहब किसी तरह क्लास को नियंत्रित नही रख पाते थे। क्लास से निकल कर एक बेंत ले आये। मैं सामने था। मुझ पर सट् सट् बेंत चलाने लगे। मैं कुछ नहीं बोला। चुपचाप मार खाता जा रहा हूँ। सोच रहा हूँ, देखूँ कितना मारते हैं। बाद में मास्टर साहब को बड़ा दुःख हुआ था। क्योंकि वे मुझे बहुत प्यार करते थे। मैं अच्छा लड़का था न ! और किसी दिन नहीं मारा। केवल वही एक दिन। मुझे कितना स्नेह करते। 'रतन', 'माणिक' इन सब नामों से मुझे पुकारते। अन्य लड़कों ने कहा था, "जाओ, तूने हमलोगों को बचा दिया।"

एक बार मैंने एक बदमाशी की। माँ मुझे पकड़ने के लिए पीछे दौड़ीं। मैं भी दौड़ा। अंत में एक चहारदिवारी के निकट आ गया। भागने का और कोई रास्ता नहीं था। चहारदिवारी पर पीठ सटा कर खड़ा हो गया। माँ ने आकर पकड़ लिया और छाती से लगा लिया। मार नहीं लगी।

एक बार एक गाय मुझे खदेड़ने लगी। मैं भाग रहा हूँ। दौड़ते-दौड़ते हाँफ कर गिर गया। पीछे ही गाय आ गयी है। सोच रहा हूँ, मेरी पीठ में दोनों सींग घुसा देगी। किन्तु आश्चर्य, मेरे समीप आते ही वह रुक गयी। मेरी पीठ पर आहिस्ते मुँह सटाकर चली गयी।

इसी प्रकार एक बार एक कुत्ते ने मुझे खदेड़ा। मैं तेजी से भागा। किंतु कुत्ते के साथ दौड़ना कैसे होता! मेरे पैर के साथ-साथ कुत्ता आ गया। मैं डर से चींख पड़ता हूँ। सोच रहा हूँ कि उसने अब मुझे काटा, किंतु क्या आश्चर्य! ठीक उसी समय मुझे इस प्रकार खदेड़ते देखकर एक दूसरा कुत्ता उसकी ओर तेजी से दौड़ पड़ा। मैं बच गया। इस प्रकार उस कुत्ते के इस तरह आक्रमण नहीं करने से यह कुत्ता मुझे काट खाता। इस तरह की अनेक घटनाएँ मेरे जीवन में घटीं। किस प्रकार जैसे एक अदृश्य हाथ ने मुझे बचाया है।

अदृश्य हाथ कहते ही एक और घटना याद आ गयी। कलकत्ते के रास्ते पर पैदल जा रहा हूँ। पीछे घूमते ही देखता हूँ कि एक घोड़ा गाड़ी का घोड़ा ठीक मेरे कंधे के निकट आ गया, मानो अभी घोड़ा-गाड़ी का चक्का मेरी देह के ऊपर होकर चला गया। हठात्, कहाँ से जैसे एक अदृश्य हाथ ने मुझे ठेल कर रास्ते के एक किनारे हटा दिया। अभी भी उसकी स्पष्ट स्मृति है। बिल्कुल जैसे आदमी के हाथ के द्वारा धकेला गया हूँ। आस-पास में कोई आदमी नहीं था। इसी से तो कहता हूँ, अदृश्य हाथ। कैसे ऐसा हुआ, कौन जाने! अनेक बार इस प्रकार मेरी रक्षा हुई है। अदृश्य हाथ ने तो रक्षा की ही है, दृश्य हाथ ने भी की है।

दृश्य हाथ की एक घटना कहता हूं। बचपन में हमलोग एक्का-गाड़ी के पीछे पौदान पर झूल पड़ते। एक बार उसी तरह झूलने लगा। दोनों हाथ पौदान पर किंतु दोनों पैर मिट्टी पर लग कर रास्ते में घसीटे जा रहे हैं। न छोड़ पाता हूँ, न चढ़ पाता हूँ। यह हालत देखकर एक आदमी ने कहीं से आकर गाड़ी रोक कर मुझे खींच लिया। उस बार इस तरह मैं बच गया।

बचपन में 'वचनामृत' पढ़ कर ही ठाकुर के विषय में जान पाया। सम्भवत: उस समय एक-दो खंड निकले थे, और एक मास्टर साहब से भी उनके विषय में जाना था। उन दिनों स्कूल में पढ़ता था। विद्यासागर महाशय का स्कूल। श्याम बाजार में। अपराह्न में थोड़ा घूमने निकलता। एक दिन देखता हूँ, थोड़ी दूर पर अनेक युवक इकट्ठे होकर कुछ कर रहे हैं। कौतूहल हुआ। निकट गया। देखा हमलोगों के स्कूल के एक मास्टर साहब और अनेक लड़के थे। वे लोग भजन गा रहे थे, राम नाम कर रहे थे। मुझे बहुत अच्छा लगा। धीरे-धीरे मैं भी उन लोगों के साथ लग गया। उनलोगों ने भी देखा एक खासा निरीह भला-मानस पाया गया है। निकट में ही एक शिव-मंदिर था। धीरे-धीरे उस समूह ने शिव-मंदिर से ही शुरू किया। जिस मास्टर साहब की मैंने बात कही है चूंकि वे मेरा क्लास नहीं लेते थे अत: मुझे पहचानते नहीं थे। शिव-मंदिर में शाम को आरती होती थी। इसके बाद देखता, लड़के जप-ध्यान करते। मेरे (मामा के) घर का नियम था कि सूर्य डूबने के साथ-साथ घर लौटना होगा। शाम होने के बाद घर में घुसने पर डाँट खानी पड़ती। शुरू में संध्यारती देखकर मैं चला आता। कुछ दिनों के बाद मन में हुआ कि ये सब संध्यारती के बाद जप-ध्यान करते हैं। मैं ही किससे कहूँ? मैंने भी संध्या-आरती के बाद रुकना शुरू किया। ध्यान करता। ध्यान माने और क्या? आँख मूंदकर चुप-चाप बैठा रहता। और मन में होता कि अभी इसी क्षण कुछ हो जाएगा। कई दिनों के बाद मास्टर साहब ने मुझसे पूछा, "क्या तुम मंदिर में पोंछा लगा सकोगे?" "अवश्य कर सकूँगा", कह कर तब से रोज मंदिर में पोंछा लगाने का काम शुरू किया। कई दिनों के बाद, मास्टर साहब ने फिर पूछा, "क्या

तुम संध्या आरती कर सकोगे ?" आरती करने का सुयोग पाना तो मेरे लिए उस समय स्वर्ग पाने के जैसा था। तुरंत तैयार हो गया। तब से मैं ही आरती करता। तब से घर पर दिन में अंततः दो बार खाने जाता। घर से यही सम्पर्क था। देखा कई लोग वहाँ (मंदिर में) रात में भी रहते हैं। सोचा, दो बार घर जाता हूँ—खाने और रात में सोने। रात में यहीं सोना क्यों नहीं हो ? रात में भी यहीं रहना शुरू किया।

रात में क्या देखा, सुनो। तुम लोगों से कहता हूँ, सुन रखो, मैं बाग-बाजार का लड़का था। ताश का अड्डा देखा है। गोली का भी अड्डा देखा है। इस बार बिल्कुल एक दूसरी तरह का अड्डा देखा। साधारणतः कलकत्ते के लड़कों के संबंध में सब की एक तरह की धारणा थी। किंतु, यहाँ उसके विपरीत देखा। देखता, गंगा के किनारे काफी युवक लड़के साधारणतः जप-ध्यान करते थे। सुबह होने पर घर चले जाते। आश्चर्यचकित हुआ। यह एक दूसरी तरह का कलकत्ता था। दिन पर दिन उन लोगों को मैंने सारी रात ध्यान-जप करते देखा है।

जो हो, इस बीच शिव-मंदिर से हम लोगों का आश्रम एक किराए के घर में आ गया। जमात धीरे-धीरे बढ़ने लगी थी। इसलिए, एक किराए का मकान लिया गया और आश्रम वहीं आ गया। बीच-बीच में घर जाता। अर्थात्, उनलोगों को समझाना चाहता कि मैं तुम लोगों का भी हूँ, पूरी तरह आश्रम का ही नहीं हो गया हूँ। घर के लोग कुछ ज्यादा बोलने का साहस नहीं कर पाते। सोचते जितना सम्पर्क है, वह भी न कहीं बंद कर दे। और पढ़ने-लिखने का समय भी अभी कम पाता। किन्तु स्कूल से कुछ खराब, अर्थात् लिखने-पढ़ने की अवहेलना करता हूँ, ऐसा कुछ नहीं सुन पाता। इसलिए, मुझसे कुछ वे लोग बोल भी नहीं पाते। करता क्या कि खूब सुबह-सुबह उठकर स्कूल की पढ़ाई की तैयारी कर डालता। घर के लोग आश्चर्य करते। सोचते सदा आश्रम में रहता है, पढ़ता है कब ! जो हो इस आश्रम में कई साधु आया-जाया करते। इनमें निर्वेदानंद जी, उनके सहयोगी भरत महाराज (स्वामी संतोषानंद जी), और ज्ञान महाराज तो थे ही। बाद में शरत् महाराज (स्वामी सारदानंद जी) भी गए थे। और भी कई साधु आते। भाड़े के मकान के ऊपर के शिव मंदिर की पतली एवं ढालू सीढ़ी से होकर शरत् महाराज को उस प्रकार भारी-भरकम शरीर लेकर प्रायः घुटनों के बल चढ़ते-उतरते देखा है। लड़के आंतरिकता का थोड़ा भी सम्मान नहीं देते। बाद में हम लोगों को दुःख होता। सोचता उन लोगों को हमलोगों ने अपने बचपने से कितना कष्ट दिया है ! जो हो, वहाँ से ही तो परवर्ती जीवन का सब कुछ है। और उन लोगों की कृपा-दृष्टि से ही तो सब कुछ हुआ।

...बचपन की बातें जब याद आती हैं, तो लगता है, यह तो अभी उसी दिन की बात है। सोचने पर अवाक् हो जाता हूँ। इसी बीच जीवन के कितने वर्ष व्यतीत हो गये हैं !

—प्रणामिका : विशेष संख्या १९९९ से साभार

श्रीरामकृष्ण की प्रतिमूर्त्ति

स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज
सहाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन

[२२ अगस्त १९९८ को बेलुड़ मठ में आयोजित स्मृति-सभा में प्रदत्त अध्यक्षीय भाषणों का अनुवाद स्वामी नित्यज्ञानानन्द जी महाराज ने किया है। उन भाषणों का सारांश दिया जा रहा है—स० ।]

श्री श्री ठाकुर की कृपा से मैंने पूज्यपाद भूतेशानन्द जी महाराज का घनिष्ठ सान्निध्य लाभ किया है एवं इस सान्निध्य से जिन दो-चार बातों ने मेरे मन के ऊपर गंभीर रूप से रेखा खींच दी है वही मैं आपलोगों से कहूँगा।

प्रथमतः अहंकार का कोई चिह्न उनके आचार-व्यवहार में मैंने कभी नहीं देखा। यह अभिमान उनमें एकदम नहीं था कि मैं एक बड़ा आदमी हूँ एवं तुम लोग इस तरह मेरे साथ व्यवहार करो। जब वे शिलौंग के अध्यक्ष थे तब श्रीमत् स्वामी विरजानन्द जी महाराज (रामकृष्ण मठ एवं मिशन के पंचम महाध्यक्ष) के सेवक के रूप में मैं वहाँ गया था। उस समय शिलौंग आश्रम में घर-द्वार कम थे। जो अच्छा कमरा था उसमें विरजानन्द जी महाराज ठहरे थे। और वहाँ के अध्यक्ष भूतेशानन्द जी महाराज हमलोगों के साथ एक ही कमरे में रहते थे। सभी विषयों में देखता अद्भुत विनय। उस समय तो उनको अच्छी तरह समझ नहीं पाया क्योंकि मैं महाध्यक्ष महाराज के साथ गया था और उनकी सेवादि में व्यस्त था। इसके बाद पूजनीय भूतेशानन्द जी के साथ मेरा सम्पर्क राजकोट में हुआ। उन्होंने मुझे राजकोट आश्रम का भार सौंपा था। वे मुझे विभिन्न लोगों से परिचय कराने के लिए भिन्न-भिन्न जगह ले जाते थे। क्या आश्चर्य। वे एक न्यासी थे एवं सह-सचिव होकर बेलुड़ मठ आने वाले थे, लेकिन हमलोग जहाँ कहीं भी जाते साधारण बस से अथवा रेलगाड़ी के तृतीय श्रेणी के डिब्बे में चढ़कर। फिर हमलोग जहाँ जाते वहाँ तो आश्रम नहीं था, किसी भक्त के घर पर ठहरना पड़ता था। एक ही कमरे में एक चारपाई पर वे और दूसरे पर मैं। एक ही तरह रहना, खाना-पीना, शौचादि—सभी करते थे। किसी भी तरह यह समझना संभव नहीं था कि वे एक न्यासी हैं एवं एक बड़े पंडित हैं। सभी विषयों में अति साधारण की तरह व्यवहार। जब वे महाध्यक्ष होकर बेलुड़ मठ आये तब मैं पुनः उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आया, क्योंकि उस समय मैं सह-सचिव बनकर बेलुड़ मठ आ गया था। यहाँ भी मैंने उनका वही स्वभाव देखा। कभी भी उनके स्वभाव में अहंकार का प्रकाश नहीं देखा।

द्वितीयतः मैंने उन्हें कभी भी कठोर होते नहीं देखा, सब समय स्नेहसिक्त बातचीत करते। जरूरत पड़ने पर दृढ़ता के साथ बोलते, लेकिन रुक्षभाषा का व्यवहार नहीं करते। रुक्ष होना उनके स्वभाव से चला गया था। वे वृथा द्वन्द्व में कभी नहीं जाते। किसी विशेष परिस्थिति में जब वे समझ जाते कि उनका कहना व्यर्थ होगा तो वे चुप रह जाते। परन्तु संघ गुरु के रूप में जो कुछ भी देखने अथवा सोचने की जरूरत है उसमें कोई त्रुटि उन्होंने की है—ऐसा मुझे नहीं लगता। खूब विचक्षणता के साथ अपना कर्त्तव्य पालन करते। लेकिन बराबर उनका मधुर व्यवहार था। उनके पास कितने दूर-दूर से प्रतिदिन लोग आते

थे। क्यों आते थे ? वे तो कोई चमत्कार अथवा जादू नहीं दिखाते, कोई तावीज नहीं देते। उनके पांडित्य के कारण आते, ऐसी भी बात नहीं है। तो किस आकर्षण से आते ? वह आकर्षण है उनका प्रेम। प्रेम ही उनके चरित्र का सबसे बड़ा माधुर्य था। मैंने जितने लोगों से बातचीत की है, सबों ने एक ही बात बताई है—प्रेम। उनका स्वभाव था पूर्ण प्रेमस्वरूप। भक्ति है ऐकान्तिक भगवत्प्रेम और उनका हृदय भक्ति से, भगवत्प्रेम से परिपूर्ण था। जिसके फलस्वरूप उनके आचार-व्यवहार में वह प्रेम प्रकाशित होता एवं लोग जाने अथवा अंजाने उसी दैवप्रेम, दैव-करुणा, दैव-स्नेह का स्पर्श पाने के लिए उनके पास आते।

मेरी विदेश यात्रा जब ठीक हुई तब मेरे मन में द्वन्द्व था। उनकी इतनी अधिक आयु है और शरीर भी ठीक नहीं चल रहा है। अतएव कभी भी कुछ हो सकता है। मैंने उनसे जाकर कहा—मेरे मन के अन्दर एक अशान्ति है आपको लेकर। आप किसी भी दिन चले जायेंगे और मैं इतनी दूर पड़ा रहूँगा। यह सुनकर वे बोले—नहीं, नहीं, तुम कोई चिन्ता मत करो। मैं अभी नहीं मरूँगा, तुम विदेश हो आओ। फिर मैं विदेश यात्रा पर गया तथा करीब हर तीसरे दिन उन्हें फोन करता। लौटने के करीब १२-१४ दिन पहले उनको जब फोन किया तो उन्होंने पूछा कि मैं कब लौट रहा हूँ। जब मैंने बताया कि ४ तारीख को लौटूँगा तो वे बोल उठे—अरे बाबा! ४ अगस्त! अभी भी इतनी देर! यह सुनकर मेरा हृदय काँप उठा। साथ-ही-साथ मैंने उनसे कहा—जिस कार्य के लिए यहाँ आया था वह हो गया है, तो क्या टिकट की तारीख बदलकर दो-तीन दिन के अन्दर चला आऊँ ? इस पर उन्होंने कहा—नहीं बाबू, वैसा मत करो। तुम यात्रा समाप्त करके आओ तब तक मैं रहूँगा। फिर मैं निश्चिन्त हो गया तथा यात्रा समाप्त करके नियत समय पर ४ अगस्त को बेलुड़ मठ लौटा। ५ तारीख को सुबह में उनके साथ भेंट हुई। मेरे ऊपर जितना स्नेह-वर्षण करना था सब उन्होंने किया। मैंने उनके मुख में लॉजेंस दिये तथा उन्होंने भी मुझे कुछ लॉजेंस दिये। मैं थका हुआ था, अतएव सोचा शाम को आकर उनसे विस्तृत बातचीत करूँगा। इसीलिए कमरे में लौट आया। बस! मैं कमरे में विश्राम ले ही रहा था और वे अचानक ५ बजे शाम को पिग्रलेस अस्पताल चले गये। सबों ने सोचा कि मैं सो रहा हूँ, अतएव जगाना ठीक नहीं होगा। सब सुनकर मेरा मन बहुत खराब हो गया। मन ही मन सोचने लगा—यह क्या हुआ ? फिर मुझे याद आयी—सुबह में जब मैं उनसे मिला था तब वे बार-बार करुण-भाव से मेरे मुँह की ओर देख रहे थे। मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था, वे क्यों ऐसा कर रहे हैं। मैंने उनसे पूछा भी—क्या कुछ बोलेंगे ? परन्तु उन्होंने कहा—नहीं। ६ तारीख को जब अस्पताल उनको देखने गया तो वहाँ भी वही बात—कोई बातचीत नहीं, केवल देख रहे हैं। मैंने उनके शरीर को हाथ से सहलाया। वे थोड़ा हँसे, बस हो गया। इस असामान्य व्यवहार से मेरे मन में द्वन्द्व उपस्थित हो गया। जब यह ठीक हो गया कि उनका ऑपरेशन होगा तब डा० विमलेन्दु मुखर्जी उनका आशीर्वाद लेने गये। लेकिन उन्होंने आशीर्वाद नहीं किया। विशेष अनुरोध करने पर उन्होंने अंत में कहा—Now it is too late. (अर्थात् आशीर्वाद करने का समय चला गया है।) यह सुनकर सभी लोग चौंक उठे। उनको सब कुछ जरूर मालूम था। तुम विदेश से लौट आओ तब तक मैं रहूँगा इत्यादि उन्होंने मुझसे कहा था। उसके बाद जो ऐसा

(शेष पृष्ठ २० पर)

एक बल, एक भरोसा

—स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज
महासचिव, रामकृष्ण मठ एवं
रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ

[२२ अगस्त १९९८ को बेलुड़ मठ में आयोजित स्मृति-सभा में दिये गये भाषण का सारांश—स० ।]

परम पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज, द्वादश अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवं मिशन इहलोक त्याग करके चले गये, भगवान श्रीरामकृष्णदेव के चरणों में लीन हो गये। जिन्होंने भी उनका सान्निध्य लाभ किया है, उनका स्नेह प्राप्त किया है, वे बहुत दिनों तक उनकी अनुपस्थिति का अनुभव करते रहेंगे। हमें यह जरूर मालूम था कि उनकी आयु ९७ वर्ष हो गयी है एवं वे बार-बार अस्वस्थ हो रहे हैं, अतएव जिस किसी समय हमलोगों को छोड़कर चले जायेंगे। लेकिन एक कहावत है : 'मन तो समझता है, लेकिन प्राण समझते नहीं।' अतएव एक क्षीण आशा रह जाती है। हमलोगों के अन्दर भी वह आशा रह गयी थी कि पूज्यपाद महाराज कम-से-कम दो-तीन साल और जीवित रहेंगे एवं १०० वर्ष की आयु पूरी करेंगे। रामकृष्ण मठ एवं मिशन में अभी तक किसी ने भी १०० वर्ष की आयु पूरी नहीं की है। पूज्यपाद महाराज १०० वर्ष पूर्ण करेंगे, यह हमलोगों की आशा थी। वे जब तक हमारे बीच रहेंगे तबतक संघ का कल्याण है। उनको कुछ नहीं करना पड़ेगा; केवल उनकी उपस्थिति ही पर्याप्त है। हमलोगों को एक बल, एक भरोसा रहता है। बीच-बीच में हमलोगों को विभिन्न प्रकार की समस्याओं से होकर गुजरना पड़ता है। उनके पास जाकर हम सभी समय कुछ-न-कुछ पथ-निर्देश प्राप्त करते। आज पूज्यपाद महाराज हमलोगों के बीच नहीं हैं। लेकिन क्या वास्तव में ऐसा ही है? नहीं, उन्होंने ही कहा है—'श्री रामकृष्ण ही परमगुरु हैं।' वे गुरु के चरणों में अर्थात् श्रीरामकृष्ण के चरणों में सभी को समर्पित कर गये हैं।

परम पूज्यपाद सारदानन्द जी महाराज के मन्त्रशिष्य थे स्वामी भूतेशानन्द जी। सारदानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ एवं मिशन के महासचिव थे, ठाकुर के पार्षदों में अन्यतम थे तथा उन्हें श्री श्री माँ का भारवाहक कहा जाता है। सारदानन्द जी महाराज को स्वामी जी (अर्थात् स्वामी विवेकानन्द जी) कहते—'शरत्, तुम्हारा तो बालू के अन्दर रहने वाली मछली का खून है'। अर्थात् वे कभी बिगड़ते नहीं थे। बहुत देर से स्वामीजी डाँटते जा रहे हैं, लेकिन वे निर्विकार। उनके उपयुक्त शिष्य थे स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज। वे भी उसी तरह थे। उनको साधारणतः कभी भी बिगड़ते नहीं देखा जाता।

महापुरुष महाराज (अर्थात् रामकृष्णदेव के संन्यासी-शिष्य एवं रामकृष्ण मठ मिशन के द्वितीय महाध्यक्ष, स्वामी शिवानन्द जी महाराज) से उन्होंने संन्यास-ग्रहण किया था। महापुरुष महाराज कहते—'मैं किसी का गुरु नहीं हूँ, मैं किसी को दीक्षा भी नहीं देता हूँ, मैं केवल सभी को ठाकुर के चरणों में समर्पित करता हूँ।' हम लोगों की गुरु-परम्परा ही ऐसी है। यही भाव था भूतेशानन्द जी महाराज का। इस प्रकार आज तक जितने भी संघाध्यक्ष हुए हैं उनमें उन्होंने सबसे अधिक भक्तों को मन्त्र-दीक्षा दी

है—१ लाख २१ हजार से भी अधिक। ७५ साल में वे मठ-मिशन के उपाध्यक्ष हुए थे तथा ८९ साल में वे मठ-मिशन के महाध्यक्ष निर्वाचित हुए। दीर्घ २३ वर्ष उन्होंने भक्तों के ऊपर कृपा की। अगस्त महीने में भी दीक्षा का दिन निर्दिष्ट किया हुआ था। किन्तु दीक्षा नहीं हुई। वे अचानक चले गये, केवल ५ दिनों के अन्दर। उसके कुछ दिन पहले भी उनका स्वास्थ्य विशेष कुछ खराब नहीं था। अचानक यदि रक्त-क्षरण नहीं होता तो वे इतनी जल्दी नहीं जाते। न्यासी-परिषद् की बैठक २६ जून को हुई थी। उस समय भी वे बौद्धिक-दृष्टि से पूरे सतेज थे, एकदम सचेतन।

लेकिन काल की गति अनिवार्य है। इसको कोई रोक नहीं सकता। एक के बाद एक जायेंगे और दूसरा आयेंगे। इस संसार में एक संग्राम चल रहा है। इस संग्राम में एक व्यक्ति गिर गया और दूसरा व्यक्ति हाथ के पताके को लेकर आगे बढ़ गया। इस संग्राम में हम सब को आगे बढ़ते जाना पड़ेगा जब तक हम भगवान के पादपद्मों में पहुँच नहीं जाते। महाराज जी के पास जो भी आये उन्होंने आगे बढ़ने के लिए शक्ति, बल, सम्पद् पाया है। महाराज जी ने जिन लोगों को दीक्षा दी है, उपदेश दिया है उन्होंने जीवन में आगे बढ़ने की खुराक पायी है। जिस पाथेय की जरूरत है वह पाथेय महाराज जी के पास से मिला है। यही तो असली गुरु का कार्य है। पंथ हमें खुद चलना होगा लेकिन पाथेय गुरु देंगे। वह पाथेय है मन्त्र, वह अहेतुक प्रेम। इस पाथेय को लेकर हमें आगे बढ़ना होगा। वे हमलोगों को छोड़कर चले गये हैं—यह सत्य है। लेकिन इसके लिए हमलोगों को रोने-धोने से नहीं चलेगा। उनके बताए मार्ग पर आगे बढ़ते जाना होगा।

महाराज जी अत्यन्त युक्तिवादी थे। एक ही आधार में युक्तिवादिता एवं प्रेम साधारणतः नहीं देखे जाते हैं। जो लोग युक्तिवादी होते हैं वे साधारणतः कठोर होते हैं। लेकिन यहाँ वैसा नहीं है। महाराज जी युक्तिवादी तो हैं लेकिन साथ ही सभी से स्नेह भी करते हैं, सभी को अपना बना लेते हैं। यह एक आश्चर्य है। कई क्षेत्रों में उनकी प्रतिभा थी। लेकिन सबसे अधिक व्यापक था उनका अहेतुक प्रेम, उनका अकृत्रिम स्नेह। सबों ने उनके स्नेह का अनुभव किया है। जो भी उनके पास आये उनका भक्त बन गये। अंग्रेजी में एक कहावत है: 'Went to stop and remained to pray' अर्थात् निन्दा करने के लिए आये लेकिन रह गये स्तुति करने के लिए। अवश्य महाराज की निन्दा करने के लिए कोई नहीं आते।

महाराज बहुत बड़े शास्त्रज्ञ थे। शास्त्र-चर्चा बहुत पसंद करते थे। अंतिम दिनों तक उनके पास भागवत पाठ होता था। एक साधु अपराह्न में रोज उनको भागवत पढ़कर सुनाते थे और बीच-बीच में वे उसकी व्याख्या भी करते।

हमने देखा है कि गुरुदेव के देहत्याग के बाद कई लोग मठ आना बन्द कर देते हैं। इसके पहले रोज मठ में आते थे, लेकिन ज्योंही वे चले गये मठ में आना भी बन्द हो गया। यह भारी भूल है। इस मठ में उन्होंने वास किया है। सोचिए, १९२३ ई० में उन्होंने इस मठ में योगदान किया था और यह १९९८ ई० है। अतएव ७५ साल उन्होंने अपना जीवन यहाँ बिताया है। यहाँ आना बन्द कर देने का अर्थ है उनके साथ सम्पर्क टूट जाना। वैसा नहीं, यह सम्पर्क सर्वदा के लिए रखना होगा। ठाकुर, माँ, स्वामी जी एवं ठाकुर के पार्षदगण तथा गुरु-परम्परा के माध्यम से ठाकुर की आध्यात्मिक शक्ति प्रवाहित होती है। यही गुरु-परम्परा का मूल-तत्त्व है। इस गुरु-

(शेष पृष्ट २० पर)

अलौकिक जीवन की कुछ झलकें

स्वामी लोकेश्वरानन्द
रामकृष्ण मिशन, इन्स्टीच्युट ऑफ कल्चर
गोलपार्क, कलकत्ता

[८ सितम्बर १९९८ को कलकत्ते के नजरूल मंच पर आयोजित स्मृति सभा में अर्पित की गयी श्रद्धांजलि का सारांश— स० ।]

मैंने पूजनीय भूतेशानन्दजी महाराज को पहली बार १९२७ ई० में देखा। उस वर्ष मैं कॉलेज में भर्ती हुआ था तथा प्रत्येक रविवार को बेलुड़ मठ जाता। मठ में स्वामीजी के शिष्य ब्रह्मचारी ज्ञान महाराज थे। उनके प्रति हमलोगों का एक विशेष आकर्षण था। हमलोग जब मठ में जाते तो वे हमारे ऊपर कई तरह के दायित्व सौंपते तथा दूसरे साधुओं के साथ परिचय करा देते। वे पूछते—अमुक के साथ तुम्हारा परिचय है? यदि नकारात्मक उत्तर देता तो वे बोलते—यह क्या रे! उसके साथ तुम्हारा परिचय नहीं है? विशेष कर दो व्यक्तियों के साथ उन्होंने मेरा परिचय करा दिया था, उनमें से एक थे स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज एवं दूसरे थे नलिनी महाराज। ज्ञान महाराज ने कह दिया था—तू इन दोनों के पास जाना। इसी कारण से उन दोनों व्यक्तियों के साथ मेरा खूब परिचय था तथा वे मुझे बहुत स्नेह करते। उस समय स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज स्वामी नहीं हुए थे, ब्रह्मचारी थे तथा उन्हें हमलोग विजय महाराज के नाम से पुकारते।

मैंने लोगों से सुना था कि भूतेशानन्द जी महाराज एक मेधावी छात्र थे। अतएव उनके संबंध में मुझे बहुत कौतूहल था। उनके कमरे में जाकर उनके साथ कई तरह की बातें करता। उनके पास एक डायरी थी जिसमें वे बहुत कुछ लिखकर रखते। एक दिन मैं वह डायरी लेकर पढ़ने लगा। वे कहीं बाहर गये हुए थे। कमरे में लौटकर उन्होंने मुझे डायरी पढ़ते देख लिया तथा मेरी भर्त्सना करते हुए कहा—छिः किसी की डायरी लेकर पढ़नी चाहिए? मेरी आँखों में मानो अश्रु आ गये। मैंने उसी क्षण डायरी रख दी। मुझे एक बड़ी शिक्षा मिली।

स्वामी शुद्धानन्द जी उन दिनों मठ में शास्त्र पढ़ाते। छात्रों में अग्रगण्य थे स्वामी भूतेशानन्द जी। उनके पास पुस्तक रहती। वे पढ़ते जाते और स्वामी शुद्धानन्द जी व्याख्या करते। पढ़ते समय यदि कहीं अटक जाते अथवा किसी शब्द का उच्चारण ठीक से नहीं कर पाते तो शुद्धानन्द जी समझ जाते कि वे उस शब्द का अर्थ नहीं जानते हैं। अतएव वे उस शब्द की व्युत्पत्ति कैसे हुई है इसके बारे में पूछते। मुझे याद है एक बार शुद्धानन्द जी ने इसी तरह किसी शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में पूछा। भूतेशानन्द जी ने मजा करते हुए धीरे से कहा—होगी कहीं से। इस पर स्वामी शुद्धानन्द जी डांटते हुए बोले—आँखों में धूल झोंकते हो? इसी तरह सीखोगे? जाओ पुस्तकालय से शब्द-कोष तथा पाणिनी व्याकरण ले आओ। जब तक शब्द कोष नहीं आया सभी चुपचाप बैठे रहे। पुस्तक आयी, पढ़ी गयी तथा उस शब्द

की व्याख्या हुई। इसमें आधा घण्टा या उससे भी अधिक समय लग गया। लेकिन पढ़ाने का तरीका देखकर मैं मुग्ध हो गया। इस तरह वे शास्त्र पढ़ाते, खासकर स्वामी भूतेशानन्द जी को।

एक बार वे कॉलेज स्क्वायर में भाषण देने गये। भाषण का विषय मुझे याद नहीं। उठकर पहले ही बोले—मैं प्रवर्तक हूँ। मैं विशेष कुछ नहीं जानता हूँ। अतएव मुझसे ज्ञान-गर्भ वक्तृता की आशा मत करें। मैं उस समय प्रवर्तक शब्द का अर्थ नहीं जानता था। उसके बाद वे धीरे-धीरे बोले। बोलने का तरीका मुझे बहुत ही पसंद आया।

उनको मैंने घनिष्ठ रूप से देखा है। उनका एक वैशिष्ट्य था हास्य-रसिकता। इस प्रसंग में एक छोटी-सी घटना बताता हूँ। सम्प्रति इंगलैंड से एक डॉक्टर आये थे। उनको बेलुड़ मठ दिखाने के लिए ले जाया गया था। इंगलैंड लौटने के बाद उन्होंने मुझे एक पत्र भेजा है। उन्होंने लिखा है—"मुझे बेलुड़ मठ बहुत अच्छा लगा; लेकिन सबसे अच्छा लगा आपलोगों के महाध्यक्ष की रसिकता।" वे कुछ ही देर महाराज के पास बैठे थे तथा थोड़ी-सी बातचीत की होगी लेकिन इस अल्प समय में ही मुग्ध हो गये।

जब वे शिलाँग में थे तब मैं उनके अधीन चेरापूँजी में कार्य करता था। उन्होंने वहाँ कितना कष्ट किया है, यह बहुत कम लोग ही जानते हैं। मैं जानता हूँ, क्योंकि चेरापूँजी से बीच-बीच में मैं शिलाँग जाता था। १९३६ ई० में श्री श्री ठाकुर की गतवर्ष जयन्ती शिलाँग शहर में आयोजित की गयी थी। उस समय भक्त लोग, विशेषकर स्वामी प्रभानन्द जी (केतकी महाराज) के उद्योग से एक मिट्टी का घर भाड़ा लेकर वहाँ आश्रम की स्थापना की गयी थी। गतवर्ष जयन्ती में भाग लेने के लिए स्वामी भूतेशानन्द जी गये थे एवं अन्ततः वहीं के अध्यक्ष हो गये। चेरापूँजी में एक छोटा-सा टिन का घर था। मैं वहाँ कष्ट करके रहता। लेकिन उनका कष्ट देखकर मैं अवाक हो जाता। वे पैदल ही इस मुहल्ले से उस मुहल्ला घूमते। उनके पास एक साईकिल थी। लेकिन पहाड़ों में साइकिल चलाना बहुत ही दुष्कर है। वे प्रायः एक ही बार खाते थे, क्योंकि खाना बनाने वाला कोई नहीं था। ऑफिस में चपरासी का काम करने वाला एक व्यक्ति दिन का खाना बना देता। स्वामी भूतेशानन्द जी घूमघूमकर भागवत पाठ किया करते। उनका भागवत पाठ बहुत ही जनप्रिय था। सभी उनको बुलाते भागवत पाठ करने के लिए; क्योंकि भागवत की इतनी सुन्दर व्याख्या उन्होंने कभी नहीं सुनी। वे लोग ही आश्रम में दान देते। एक मजे की घटना याद आती है। उनके सामने का एक दाँत कृत्रिम था। रात में सोने के समय उस दाँत को निकालकर तकिये के पास रखते। सुबह में सो कर उठते ही पूछते—मेरा दाँत कहाँ गया। तब हमलोग खोजते तथा चूहे के बिल में वह दाँत पाते। मिट्टी का घर था तथा उसमें चूहे रहते थे तथा उनका दाँत लेकर बिल में चले जाते। यह एक मजा का खेल था। उनकी हास्य रसिकता से संबधित एक और घटना बताता हूँ। एक दिन स्वामी गंगेशानन्द जी (द्विजेन महाराज) उन पर बहुत नाराज होकर उनसे कहने लगे—इस तरह के चेहरे के मनुष्य की भला कितनी बुद्धि होगी। स्वामी भूतेशानन्द जी ने धीरे से कहा—मेरा चेहरा देखने में अच्छा नहीं है लेकिन धनुष की तरह तो नहीं है। स्वामी गंगेशानन्द जी सामने की ओर झुककर चलते थे, धनुष की तरह उनका शरीर था। मैं सोचा कि गंगेशानन्द जी बहुत बिगड़ जायेंगे, शायद मार बैठेंगे। लेकिन यह

सुनकर बे हो···हो करके हँसने लगे। धीरे-धीरे शिलौंग आश्रम गढ़ उठा। एक मन्दिर बना। उसके बाद निर्धन छात्रों के लिए एक छात्रावास हुआ, पुस्तकालय हुआ। एक अच्छे वक्ता थे। एक बार एक प्रदर्शनी हुई थी। उस प्रदर्शनी में एक छोटी-सी स्टॉल थी जहाँ यह दिखाया गया था कि रामकृष्ण मिशन में किस तरह रोगी की सेवा होती है। प्रदर्शनी देखने अँग्रेज गवर्नर आये थे। मैं भूतेशानन्द जी महाराज के साथ वहाँ था। गवर्नर आकर हमलोगों से बोले—मैंने तुमलोगों के बारे में बहुत कुछ सुना है। खासकर दान में मिले रुपये-पैसे का हिसाब तुमलोग बहुत अच्छी तरह रखते हो। फिर भूतेशानन्द जी ने उन्हें अच्छी तरह बताया कि हमलोगों की दृष्टिभंगी क्या है, हमलोग क्यों सेवा-कार्य करते हैं तथा क्यों इतनी सतर्कता से रुपये का हिसाब-किताब रखते हैं। गवर्नर सुनकर बहुत खुश हुए, बार-बार धन्यवाद देने लगे।

स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज जहाँ कहीं गये सब के प्रिय पात्र हुए। शिलौंग से वे राजकोट गये थे। वहाँ का आश्रम बुरी अवस्था में था, उसे भी उन्होंने ठीक किया। वहाँ की भाषा भी उन्होंने सीखी थी। वहाँ के लोग आज भी उनको याद करते हैं।

(पेज नं० १५ का शेष भाग)

होगा—यह मैंने स्वप्न में भी सोचा नहीं था।

मैंने पहले ही कहा है, वे प्रेम की प्रतिमूर्ति थे। भगवान तो प्रेमस्वरूप हैं। भगवान श्रीरामकृष्ण की गद्दी पर जो बैठते हैं (अर्थात् जो भी संघाध्यक्ष होते हैं) वे करुणा के अवतार हो जाते हैं। श्री रामकृष्ण करुणावश अवतीर्ण हुए थे मनुष्य की रक्षा करने के लिए, उनको पथ दिखाने के लिए, उनका उद्धार करने के लिए। इसीलिए श्रीरामकृष्ण की गद्दी पर जो बैठते हैं वे भी उनका अनुध्यान करके उनकी ही सत्ता प्राप्त करते हैं, उनके भीतर उनका ही प्रकाश दिखाई देता है। स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ठाकुर श्रीरामकृष्ण की वही मूर्ति होकर बैठे थे। वे हैं, वे रहेंगे। हम उनकी भक्ति करते हैं, उनसे प्रेम करते हैं—इसका प्रमाण होगा उनके द्वारा प्रदर्शित पथ पर हमारा बढ़ना। उनके प्रदर्शित पथ पर चलने से हमारे ऊपर उनका आशीर्वाद वर्षित होगा। □

(पेज नं० १७ का शेष भाग)

परम्परा के माध्यम से वह शक्ति हमलोगों के पास आती है। अतएव कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि वे चले गये हैं, अतएव यहाँ आने से अब क्या होगा? यहाँ आना होगा। ठाकुर यहाँ विद्यमान हैं। स्वामीजी ठाकुर की प्रतिष्ठा यहाँ कर गये हैं। ठाकुर ने कहा था—नरेन मुझे जहाँ रखेगा, मैं वहीं रहूँगा। ठाकुर यहाँ हैं, माँ हैं, यह महापीठ स्थान है। महाराज जगत् गुरु श्रीरामकृष्ण के पास आपलोगों को समर्पित कर गये हैं। अतएव यह सम्पर्क सावधानीपूर्वक रखना होगा। इस सम्पर्क को रखने पर पूज्यवाद महाराज को खो जाने का जो शोक आपलोगों को हुआ है वह क्रमशः दूर हो जायेगा। ठाकुर, माँ को पकड़कर रखने पर उनके पास आत्म-समर्पण करने पर जीवन एवं शान्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति होगी। मैं ठाकुर के पादपद्मों में यह प्रार्थना करता हूँ कि वे सभी को शान्ति दें, आनन्द दें।

हृदय-देवता

डा० के० बी० बक्सी

[२२ अगस्त १९९८ को बेलुड़ मठ में आयोजित स्मृति-सभा में अर्पित की गयी श्रद्धांजलि का सार। डा० बक्सी हृदय रोग-विशेषज्ञ के रूप में सुदीर्घ काल तक पूज्यपाद भूतेशानन्द जी महाराज की सेवा में निरत थे – सं० ।]

१९८२ ई० में रामकृष्ण योगोद्यान मठ (काँकुड़-गाछी, कलकत्ता) में एक हृदय-रोग विशेषज्ञ के रूप में मैं पहली बार पूज्यपाद महाराज के संसर्ग में आया। जो हजार-हजार भक्तों के हृदय-देवता हैं, उनके हृदय की चिकित्सा का गुरुभार मेरे ऊपर न्यस्त हुआ। मैंने मन-ही-मन सोचा—क्या मैं वास्तव में इसके लिए उपयुक्त हूँ या नहीं। जो हो, उसके बाद महाराजजी के नजदीक आने का जितना सुयोग आया, मैंने अनुभव किया कि महाराज न अपने अत्यन्त कोमल स्वभाव, दरदी मन, स्नेह-ममता भरी बातों एवं भुवन-भुलाने वाली हँसी से मुझको अपने पास खींच लिया है, मैं उनके स्नेह-बन्धन में बँध गया हूँ। मैंने अपने हृदय को सारी श्रद्धा-भक्ति, निष्ठा एवं प्रेम के साथ अपने आप को चिकित्सक के रूप में महाराज की सेवा में सौंप दिया। महाराज के साथ मेरी यात्रा शुरू हुई। उसके बाद प्रायः १५ वर्ष बीत चुके हैं एवं उनके चरण-स्पर्श में रहने के कारण कई घटनाएँ घटी हैं। उनमें से कुछ यहाँ भक्तों के निकट निवेदन करने की चेष्टा करता हूँ।

मुझे लगता है पूज्यपाद महाराज के निकट भक्त-गण थे सबके ऊपर। भक्तों के साथ समय बिताते, बातें करते विभिन्न स्थानों में मैंने उनको देखा है एवं वह दुर्लभ दृश्य उपभोग किया है। प्रतिदिन दर्शन का समय होने पर वे आकुल हो उठते थे। ऐसा लगता था कि भक्तों को दर्शन देने की अपेक्षा भक्तों के दर्शन करने के लिए वे अधिक अस्थिर हैं। जो हो, भक्त लोग उनके दर्शन करते एवं वे भी भक्तों के दर्शन करते। दोनों पक्षों का यह दर्शन-विनिमय एक अपूर्व दृश्य था! वह दर्शन जब शारीरिक कारण से कभी बन्द रखना पड़ता तो उनके मन में बहुत तकलीफ होती। बाद में दर्शन के समय महाराज एवं भक्तों के बीच बेंच रखी गयी (ताकि भक्त-गण दूर से ही महाराज को प्रणाम करें क्योंकि पास में जाने से रोग-संक्रमण का भय था)। लेकिन महाराज को वह भी मनोनुकूल नहीं था। बीच-बीच में कहते—'इन बेंचों को कब हटाओगे'। एकदिन उन्होंने कहा—जापान के भक्तलोग मुझे वहाँ ले जाना चाहते हैं। एक बार क्या मुझे वहाँ जाने दोगे? मैंने कहा—महाराज, भगवान कहाँ रहते हैं? भगवान रहते हैं मन्दिर में एवं भक्तों के हृदय में। आप तो मन्दिर में हैं एवं भक्तों के हृदय में भी हैं। जापान के भक्तलोग यदि आपको देखना चाहते हैं तो अपने हृदय की ओर देख सकते हैं अथवा यहाँ मन्दिर में आकर आपके दर्शन कर जा सकते हैं। महाराज थोड़ा हँसे एवं कुछ नहीं बोले।

प्रति सप्ताह अन्ततः एक बार महाराज को देखने की व्यवस्था रहती, डॉक्टरी-जाँच अथवा आलोचना होती। लेकिन मुख्य आकर्षण रहता महाराज के मुख से दो-चार स्नेह की बातें सुनना अथवा थोड़ा स्नेह-स्पर्श पाना। उनकी मीठी बातें, उनका स्नेहमय स्पर्श आज भी तन-मन में झंकृत

हो रहे हैं। प्रति शनिवार अथवा रविवार को मन छटपट करता कब महाराज को देखने जाऊँगा। किसी सप्ताह यदि किसी विशेष कारणवश उनके पास जाना नहीं होता तो ऐसा लगता मानो वह सप्ताह ही निरर्थक हुआ। महाराज की चिकित्सा के लिए और विशेषज्ञ-चिकित्सकों को क्रमशः चिकित्सक-दल में शामिल किया गया। वे सभी मेरी तरह ही महाराज की माया में आबद्ध हो गये थे।

महाराज रोगी के रूप में एकदम आदर्श एवं अनुकरणीय थे। जब भी चिकित्सा-संबंधी कोई महत्वपूर्ण निर्णय लेने की जरूरत हुई है उनका उत्तर होता—तुमलोग जो अच्छा समझो वही करो। कभी-कभी मुझे पूछते—तुम Convinced (निश्चित) हो तो ? इस उत्तर के साथ बीच-बीच में वे जोड़ देते—Go ahead (जो करना है करो।) उनके जैसा युक्तिवादी व्यक्ति मैंने नहीं देखा है।

महाराज के पास जब भी जाकर पूछता—महाराज, आप कैसे हैं ? अत्यन्त सहज एव सरल रूप से उत्तर देते—उन लोगों से पूछो (अर्थात् सेवकों को पूछो।) अरे सुप्रभात, डाक्टरा को बोलो मैं कैसा हूँ। कभी-कभी मजा करके कहते मेरे लिए एक पशु-चिकित्सक की जरूरत है क्योंकि (पशु की तरह) मैं अपने शरीर के संबध में नहीं बता सकता। देह के संबंध में वे एकदम निस्पृह थे, किसी तरह की आसक्ति नहीं थी। सन्यासियों के लिए ही शायद यह सभव है।

हरेक घटना के माध्यम से महाराज के पास से हमलोगों ने थोड़ी-बहुत शिक्षा प्राप्त की है। वैसी एक-दो घटना बताता हूँ। गाँव के लोगों के स्वास्थ्य संरक्षण के लिए १९८४ ई० में एक संघ बना। मुझे उस संघ का अध्यक्ष बनाया गया। कुछ दिनों बाद उस कार्य के साथ विशेष रूप से युक्त एक युवक ने मुझे आकर कहा कि वह साधु बनना चाहता है। इस सम्बन्ध में मेरा एकमात मत नहीं था क्योंकि युवक के चले जाने पर गाँव के लोगों की सेवा में बाधा उत्पन्न होगी। मैंने पूजनीय महाराज के निकट निवेदन किया—महाराज, आप बताइए गाँव के लोगों की सेवा में बाधा उत्पन्न करके युवक का मठ में योगदान करना उचित होगा या नहीं। आप जो कहेंगे मैं वही करूँगा। पूज्यपाद महाराज बिन्दुमात्र द्विधा न करके बोले—'साधु-जीवन यापन करने से ही तो हुआ। इसके अलावे तुमलोग जो सेवा करते हो वह तो स्वामीजी का ही कार्य है, मठ का ही Extention Work (विस्तृत कार्य) है। इसके लिए गृह-त्याग क्यों करना होगा ?' बस, फैसला हो गया। वह उपदेश उस युवक एवं हमलोगों के प्रत्येक के जीवन में एक पाथेय हो गया। और एक घटना बताऊँ। एक दिन महाराज की जाँच कर रहा था। महाराज बोले—तुम जैसे नरम हो तुम्हारी स्त्री भी वैसी नरम है। मैंने कहा—महाराज, नरम-प्रकृति का व्यक्ति होने से बहुत असुविधा हो रही है। कोई मेरी बात नहीं सुनता। इसलिए सोचता हूँ, थोड़ा गरम होने की चेष्टा करूँ या नहीं। वे बोले—तुम क्या सोचते हो गरम होने से तुम्हारी समस्या का समाधान हो जायेगा। समस्या तो बढ़ भी सकती है। इसके बाद कुछ देर तक चुप रहे, फिर बोले—नहीं बापू, तुम जैसे नरम हो वैसे ही रहो। वाह ! मेरा गरम होने का शौक सदा के लिए मिट गया। महाराज के संस्पर्श में आकर और नरम हो गया। इस उपदेश के माध्यम से दैनन्दिन जीवन में एक बड़ी शिक्षा महाराज ने मुझे दी।

एक बार महाराज के साथ पुरी गया था। साथ में मेरी पत्नी भी थी। महाराज हमलोगों की शारीरिक अवस्था जानते थे। सब समय उन्हें इसकी चिन्ता रहती। इसलिए बोले—तुम लोग जगन्नाथ देव के मन्दिर में मत जाना; क्लान्ति

होगी क्योंकि बड़ी भीड़ होती है। मन्दिर के दरवाजे पर जो प्रतिभू हैं वहाँ प्रणाम कर आओ। मैं भी वहीं पूजा करता हूँ। मुझे ऐसा लगा साक्षात् जगन्नाथ देव तो मेरे सामने ही बैठे हुए हैं। उनको प्रणाम करके आ गया। हाल में बीच-बीच में मेरा स्वास्थ्य खराब जा रहा था। एक दिन उन्होंने मुझसे पूछा—ठीक करके बोलो, तुम अभी कैसे हो? फिर बोले—सावधानीपूर्वक रहो, अच्छे रहो, तुम्हारे ऊपर हमलोग तथा और भी कितने लोग निर्भर हैं। कैसी सुन्दर स्नेहसिक्त मीठी बातें! ये सारी बातें सारे जीवन के लिए अमूल्य सम्पदा हैं।

और एक घटना बताकर मैं समाप्त करूँगा। एक दिन पूज्यपाद महाराज हमलोगों के साथ विविध विषयों की चर्चा कर रहे थे। अचानक परिहास करके बोले—तुम डाक्टर लोग कुछ नहीं जानते, कुछ नहीं कर सकते। उस दिन महाराज के पास आत्मसमर्पण करके कहा था—महाराज, इतने दिनों बाद हमलोग एक ही बात जान पाये हैं कि हमलोग कुछ नहीं जानते एवं हमलोग कुछ नहीं कर सकते। पियरलेस अस्पताल से कोठारी अस्पताल ऑपरेशन के लिए रवाना होने के पहले महाराज मुझसे बोले—तुम मेरे साथ चल रहे हो तो? मैं तो जाने के लिए तैयार ही था। अतएव बोला—हाँ महाराज, मैं आपके साथ हूँ। उसके बाद अन्त तक महाराज का साथ नहीं छोड़ा। लेकिन क्या हुआ साथ में रहकर? हम पूरे चिकित्सक-दल आप्राण चेष्टा करके भी क्या कुछ कर सके? हमलोगों के हृदय-देवता पूजनीय महाराज को हमलोग क्या रख सके? सच में, हम डाक्टर लोग कुछ नहीं कर सकते! सभी ईश्वर की इच्छा! महाराज जी का देह-त्याग हो गया, लेकिन मैं विश्वास करता हूँ वे हमलोगों के बीच थे, हैं एवं रहेंगे। मैं आशा करता हूँ आप लोग भी वैसा ही सोचेंगे कि महाराज थे एवं हैं। थोड़ा चिन्तन करने पर देखेंगे वे आपके पास ही हैं।

□

जाओ, जाओ, तुम सब लोग वहाँ जाओ, जहाँ प्लेग फैला हो, जहाँ दुर्भिक्ष काले बादल की भाँति छा गया हो, जहाँ लोग दुःख-कष्ट के भार से पीड़ित हों, और जाकर उनका दुःख हलका करो। अधिक से अधिक क्या होगा?—यही न कि इस प्रयत्न में तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी? पर उससे क्या? तुम्हारे समान कितने ही लोग कीड़ों की भाँति प्रतिदिन जन्म ले रहे हैं और मरते जा रहे हैं! इससे इस बड़ी दुनिया का भला कौन-सा टोटा हो जाता है? तुम्हें मरना तो होगा ही, तो फिर एक महान् आदर्श लेकर क्यों न मरो? जीवन में एक महान् आदर्श लेकर मर जाना कहीं बेहतर है। द्वार द्वार जाकर इस आदर्श का प्रचार करो, और इससे तुम्हारी अपनी उन्नति तो होगी ही, साथ ही तुम अपने देश का भी कल्याण करोगे। तुम्हीं पर हमारे देश का भविष्य निर्भर है—उसकी भावी आशाएँ केन्द्रित हैं। तुम्हें अकर्मण्य जीवन बिताते देख मुझे मार्मिक पीड़ा होती है। उठो! उठो! काम में लग जाओ—हाँ, काम में लग जाओ! शीघ्र, शीघ्र! इधर-उधर मत देखो—समय मत खोओ, दिन पर दिन काल तुम्हारे अधिकाधिक निकट आता जा रहा है! यह सोचकर निठल्ले बने मत बैठे रहो कि समय आने पर सब कुछ हो जाएगा। ध्यान रखो, ऐसा करने से कुछ भी न हो सकेगा।

—स्वामी विवेकानन्द

स्नेह-स्पर्श

डा० विमलेन्दु मुखर्जी

[२२ अगस्त १९९८ को बेलुड़ मठ में आयोजित स्मृति-सभा में निवेदित की गयी श्रद्धांजलि का सारांश। डा० मुखर्जी एक सुविख्यात शल्य-चिकित्सक हैं एवं पूज्यपाद महाराज की सेवा में सुदीर्घ काल तक थे – स०।]

महाराज जी के संसर्ग में आने के बाद प्रायः उनके पास आता। एक बार नौकाघाट से होकर आया। रास्ते में बहुत दूर पैदल चलना पड़ा था। महाराज के पास आते ही उन्होंने पूछा—तुम बहुत परिश्रान्त नजर आते हो। बहुत पैदल चला है क्या? मैंने कहा—हाँ, महाराज, थोड़ा पैदल चला था, लेकिन कोई विशेष कष्ट नहीं हुआ। उनके पास जाने में भला कष्ट कैसा? महाराज कितनी सारी कहानियाँ कहते। कितना परिहास करते! समय कैसे बीत जाता हमलोगों को कुछ भी पता नहीं चलता।

बहुत दिनों तक दर्शन नहीं होने पर यदि अचानक एक दिन उनके पास जाता तो शिकायत करके कहते—इतनी दिनों बाद क्यों आया? तुम्हारी बात मुझे याद आती है, बीच-बीच में मेरे पास आना। मेरे मस्तक पर हाथ फेरते हुए उपरोक्त बातें इस तरह स्नेह के साथ कहते जो मुझ जैसे मातृ-पितृ हीन व्यक्ति के लिए परम आदरणीय थीं।

कुछ दिन पहले मेरे एक घनिष्ठ मित्र की पत्नी का ऑपरेशन होना था। रिपोर्ट को देखकर मैं विषण्ण हो गया। बहुत ही खराब रिपोर्ट थी। दौड़ते हुए महाराज के पास आया। मैंने उनसे कहा—महाराज, मैं यह ऑपरेशन करने जा रहा हूँ। आप आशीर्वाद कीजिए। महाराज ने हँसते हुए मेरे मस्तक पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और कहा—जाओ ऑपरेशन करो, सब ठीक हो जायेगा। वास्तव में वही हुआ। क्या आश्चर्य! दूसरी बार रिपोर्ट आयी। कोई खराब बीमारी नहीं है। मेरे एक दूसरे बन्धु का ऑपरेशन होने वाला था। खराब बीमारी का सन्देह था। उस बार भी महाराज ने कहा था—कोई भय नहीं है, तुम ऑपरेशन करो, ठीक हो जायेगा। ठीक हो भी गया।

अंतिम समय जब महाराज को कोठारी अस्पताल में ऑपरेशन के लिए ले जाया गया तब मैं उनके पास जाकर इस बार भी आशीर्वाद चाहा था। मैंने कहा था—महाराज, आशीर्वाद कीजिए यदि आपको ऑपरेशन करने की जरूरत हो तो सफल हो सकूँ। महाराज थोड़ा म्लान हँसे थे तथा बोले—जरूरत पड़ने पर निश्चय करोगे। दोनों हाथ मस्तक पर रखकर जो आशीर्वाद उन्होंने पहले किया था इस बार उन्होंने नहीं किया। हमलोगों की डॉक्टरी-चिकित्सा के बाहर बहुत कुछ है। शायद वे जानते थे कि उनके जाने का समय आ गया है। एक बात हमलोगों को वे कह गये थे। वह यहाँ बताना शायद समीचीन नहीं होगा। (महाराज ने कहा था—Now it is too late अर्थात् आशीर्वाद देने का अब समय नहीं है।) चेष्टा की कोई त्रुटि नहीं थी। लेकिन जो खुद भगवान हैं वे सब कुछ जानते हैं कि क्या होने वाला है। हम साधारण मनुष्य भला कितनी कोशिश कर सकते हैं? हमलोगों से

जितना संभव था उतनी चेष्टा हमने की। मैं भाग्यवान हूँ कि मुझे उनकी चिकित्सा का सुयोग प्राप्त हुआ। हाँ, मैंने उन्हें कष्ट भी दिया है। उनकी अच्छाई के लिए छोटा-मोटा ऑपरेशन भी करना पड़ा है। कष्ट होने पर भी वे कभी कुछ नहीं बोलते। सब समय कहते—नहीं, नहीं, मुझको कोई कष्ट नहीं हुआ; तुम्हारे मन में इसके लिए क्यों कष्ट होता है?

महाराज आज हमलोगों के बीच शारीरिक रूप से उपस्थित नहीं हैं, किन्तु प्रत्येक के हृदय में हैं और रहेंगे। हम चिकित्सक-गण जो उनके सान्निध्य में आये थे तथा उनकी सेवा का सुयोग पाया था, आज धन्य हैं; सचमुच हमलोगों का जीवन धन्य है जो ऐसे महापुरुष की चिकित्सा हम कर सके।

मूर्ख के महापुरुष

डा० शैबाल गुप्त

[२२ अगस्त बेलुड़ मठ में आयोजित स्मृति-सभा में अर्पित की गयी श्रद्धांजलि का सारांश। डा० गुप्त प्रसिद्ध हृदय-शल्यचिकित्सक हैं एवं बहुत दिनों तक पूज्यपाद महाराज के साथ घनिष्ठ रूप से संयुक्त थे—स०।]
अनुवादक : स्वामी नित्यज्ञानानन्द, बेलुड़ मठ।

मेरी कहानी 'एक मूर्ख व्यक्ति के महापुरुष' की कहानी है! मूर्ख व्यक्ति नहीं रहने पर महापुरुषों का विराटत्व नहीं समझा जा सकता है क्योंकि साधारण लोगों की तरह वे भी खाते हैं—पीते हैं, हँसते हैं—बोलते हैं, स्नेह करते हैं—आशीर्वाद करते हैं, इसके अन्दर अलौकिकता कहाँ है? इसीलिए मूर्ख की जरूरत है। जैसे मूर्तिकार यदि पत्थर का टुकड़ा न पाये तो काट-काट कर उसमें रूप कैसे प्रकट करेगा? पत्थर के टुकड़े की जरूरत है। इसी तरह महापुरुषों को मूर्ख की जरूरत होती है। समाज में मेरी तरह और भी कितने मूर्ख भरे पड़े हैं, लेकिन मुझको ही क्यों चुना गया—इसका उत्तर मैं नहीं जानता। क्यों इतनी करुणा, इतना प्रेम पाया हूँ—यह मुझे मालूम नहीं। पाया हूँ—बस, इतना जानता हूँ। महाराज सब समय मुझे बुलाते। मैं भी प्रत्येक बार जाता। दुःख-यंत्रणा मिलने पर महाराज के पास दौड़कर आ जाता। यंत्रणा की बात कभी नहीं बताता, लेकिन उनके पास आने से ही सब ठीक हो जाता।

एक दिन महाराज ने मुझे पूछा—क्या तुम पुनर्जन्म में विश्वास करते हो? मैंने कहा—नहीं, पुनर्जन्म में मैं विश्वास नहीं करता हूँ। महाराज चुप रहे। फिर मैंने पूछा—क्या आप करते हैं? उन्होंने उत्तर दिया—हाँ, करता हूँ। मैंने फिर पूछा—क्यों करते हैं? थोड़ा चुप रहकर बोले—अभाव पदार्थ से भाव पदार्थ की सृष्टि कभी संभव नहीं है। बस, इतनी ही बात। सोचते-सोचते घर

लौटा। Something can't come out of nothing —यह तो बहुत बड़ी बात है! सम्पूर्ण विज्ञान-धारणा आज इसी सिद्धान्त पर निर्भर है। कितनी ज्ञान गंभीर बात है यह! समझने में छः महीना लगा। ऐसी ही थी महाराज की एक-एक बात—Crush missile (परास्त करने वाला अस्त्र)। एक बार लगने पर सोचने के लिए बाध्य करेगा छः महीने तक।

एक दिन भौतिक विज्ञान (Physics) की आलोचना हो रही थी। महाराज ने पूछा—Greek History of Time में क्या है? मैंने कहा—समय आपेक्षिक है, समय कितने प्रकार के हैं, समय कब तक चलता रहेगा इत्यादि लिखा हुआ है। महाराज ने थोड़ा सुनकर संस्कृत से एक श्लोक की आवृत्ति की। इसका अर्थ समझाते हुए उन्होंने कहा—समय घटना-परम्परा का संबंध ठीक करता है अर्थात् दो घटनाओं के बीच के व्यवधान का माप है समय। जितने दिनों तक विश्व-ब्रह्माण्ड है उतने दिनों तक समय चलता रहेगा। घटना कभी भी बन्द नहीं हो सकती। अतएव समय भी अनन्त है। मैंने सोचा—वाह! यह तो बहुत सुन्दर बात है। मैंने पूछा—कहाँ है यह? उन्होंने कहा—भागवत में। इसके बाद आकाश आदि सम्पूर्ण विज्ञान की बातें बता दी। मैं अवाक् हो गया। फिर छः महीने का सबक। यह सब सुनकर मन में स्वाभाविक प्रश्न जगा—यदि आधुनिकतम विज्ञान की धारणाएँ आध्यात्मिकता में पायी जायँ तो क्या मनुष्य वैचारिक दृष्टिकोण से एक ही जगह पर है? अर्थात् रास्ता जिधर से ही क्यों न हो, विचार का विकास एक ही है।

पृथ्वी के जिस किसी विषय पर महाराज के साथ आलोचना किया जा सकता था। कोई भी विषय क्यों न हो, महाराज थोड़ा-बहुत प्रकाश डाल सकते थे। मैं देश-विदेश बहुत घूमा हूँ, लेकिन इतने बड़े पंडित को कहीं नहीं देखा है। लेकिन वह पांडित्य कौन समझेगा? वह पांडित्य सम्पूर्ण रूप से आध्यात्मिकता के द्वारा ढंका हुआ है। और इस पांडित्य का आधार है absolute rationality (पूर्ण यौक्तिकता)। आध्यात्मिकता की युक्तिपूर्ण व्याख्या महाराज कर गये हैं। मुझे तो कह सकते थे—पुनर्जन्म की बात इतने स्थानों पर शास्त्रों में लिखी हुई है। अरे छोकरा, तुम कौन हो जो पूछते हो पुनर्जन्म है या नहीं? लेकिन ऐसा नहीं बोले। युक्ति की सहायता से बोले—अभाव पदार्थ से भाव पदार्थ की सृष्टि कभी संभव नहीं है।

एक बार एक विख्यात पदार्थ विद् कलकत्ता आये थे। उनसे जब बार-बार पूछा गया कि क्या आप ईश्वर में विश्वास करते हैं, तो अन्त में उन्होंने कहा—I don't believe in any existing religion अर्थात् मैं किसी भी धर्म में विश्वास नहीं करता हूँ। यह बात जब मैंने महाराज को बताई तो उन्होंने कहा—वह यह कैसे बोला? धर्म क्या है वह जानता है? धर्म क्या एक दिन में सीखा जा सकता है? धर्म क्या केवल पुस्तक पढ़ने से होता है? सारा जीवन लगता है धर्म को समझने में। यदि सारा जीवन धर्म के लिए दे ही दिया तो फिर रह ही क्या गया?

मैं बीच-बीच में पत्र-पत्रिकादि में निबन्ध लिखता। एक दिन महाराज के पास आने पर वे बोले—"तुम्हारा लिखा हुआ लेख मैंने पढ़ा है। ओह! तुमने कितनी लिखाई-पढ़ाई की है, बोलो तो!" मैंने कहा—महाराज, बचपन में पढ़ा था और वह भी सब घुल-मिल गया है। यह सुनकर महाराज बहुत खुश हुए और बच्चे की तरह हो···हो करके हँसने लगे। किताबी-ज्ञान कुछ नहीं दिया—यह उपलब्धि महाराज को

बताने के कारण महाराज बहुत खुश हुए थे। वास्तव में मूर्खता यहीं पर है। पुस्तकादि पढ़ना अधिक हो गया था—वही मूर्खता थी।

कितना प्यार करते थे! उस प्रेम की कोई तुलना नहीं है। सब कुछ बोल भी नहीं सकता हूँ। देह त्याग के चार-पाँच महीने पहले महाराज अस्वस्थ होकर गोलपार्क, कलकत्ते में थे। खबर पाकर दौड़ता हुआ गया। उस अस्वस्थ अवस्था में महाराज दोनों हाथों से मेरा हाथ पकड़कर बोले—तुमको मैं बहुत स्नेह करता हूँ। जानते हो, मैं तुमको बहुत स्नेह करता हूँ? कोई भय नहीं, मैं इतनी जल्दी नहीं जाऊँगा। मैं एकदम अभिभूत हो गया। इस स्नेह की कोई तुलना नहीं। पहले सोचता था, दीक्षा क्यों लूँगा? जिसको नहीं जानता हूँ उसके पास मस्तक क्यों झुकाऊँगा? जीवन में कभी भी मस्तक नीचा नहीं किया। मेरी बुद्धि, मेरी युक्ति, मेरा मस्तिष्क, मेरा हृदय वही पर्याप्त है। अतएव दीक्षा नहीं लूँगा। लेकिन महाराज का प्रेम, उनका सान्निध्य, उनके साथ वार्तालाप ने मेरे विचार को पूरा बदल दिया। एक दिन उनको एकान्त में पूछा—दीक्षा का क्या अर्थ है? दीक्षा लेने से क्या होता है? महाराज इन प्रश्नों के उत्तर टालकर बोले, तुम जब प्रस्तुत होओगे तब दीक्षा पाओगे। मैंने पूछा—तो क्या मैं प्रस्तुत हूँ? उन्होंने कहा—वह मैं नहीं बताऊँगा, तुम खुद समझ जाओगे। मैंने फिर पूछा—तब कम-से-कम यह बताइए कि मैं यह कैसे समझूँगा कि मैं प्रस्तुत हूँ या नहीं? वे हँसकर बोले—वह भी मैं नहीं बताऊँगा, वह भी तुम खुद समझ लोगे। बहुत मुश्किल! अब तो और कोई प्रश्न हो नहीं सकता। अतएव चुपचाप बैठा रहा। अन्त में महाराज को शायद दया हुई, अतएव बोले—लेकिन इतना कह सकता हूँ कि जब तुम प्रस्तुत होओगे तब मैं भी प्रस्तुत रहूँगा। मैंने मन-ही-मन सोचा दीक्षा लूँगा। लेकिन अभी भी समय है, मुझको दीक्षा न देकर महाराज तो जा नहीं सकेंगे। इसीलिए दीक्षा अभी नहीं लेना ही अच्छा है। लेकिन एक महीना भी नहीं बीता। महाराज जी बेलुड़ मठ में थे और स्वस्थ भी थे। अचानक एक दिन स्वप्न में लगा मानो महाराज का देह-त्याग हो रहा है। मन हाहाकार कर उठा—महाराज का देह त्याग हो रहा है, और तो कोई जगह नहीं है जहाँ दौड़-दौड़ कर जाऊँ तथा मेरी दीक्षा भी नहीं हुई। यह तीन महीने पहले की बात है। उसके बाद की घटना नहीं बताऊँगा। (गुप्त जी की पूजनीय महाराज के पास दीक्षा हो गयी।) मेरे विज्ञान की दृष्टि से इसकी कोई व्याख्या नहीं है। मैं अब सम्पूर्ण समर्पित हूँ। महाराज एवं ठाकुर मेरे मन में एक हो गये हैं।

डाक्टरी-चिकित्सा के क्रम में हमने महाराज को कितना कष्ट दिया है! किन्तु कभी भी उन्होंने कोई शिकायत नहीं की। कभी भी उन्होंने यह नहीं कहा कि कष्ट होता है। महाराज बहुत कम ही दृढ़ स्वर में बोलते थे। लेकिन वह दृढ़ स्वर मैं कभी नहीं भूल सकता। क्योंकि उससे मेरे Virgin brain (शुद्ध मस्तिष्क) में धक्का लगा था। उन्होंने एक दिन दृढ़ स्वर में कहा था—मैं अपना श्राद्ध करके संन्यासी हुआ है। अतएव मेरी मृत्यु हो चुकी है। यह देह जो है वह तुमलोगों की सम्पत्ति है। तुमलोगों के कल्याण के लिए इस शरीर को जो करने की जरूरत हो वैसा करो। लेकिन यौक्तिकता के बाहर कभी मत जाना, अयुक्तिकर कुछ मत करना। अंतिम बार जब अस्वस्थ हुए तो मैंने सोचा कि इस बार स्वस्थ होने पर मैं उनसे पूछूँगा—आप इतना जो कष्ट सह रहे हैं वह किसके लिए? यदि आप जानते हैं तो मुझे बताइए? सत्तर वर्ष की आयु में लोग कहते हैं कि बहुत हुआ, अब छोड़ दीजिए। लेकिन जिनको जीवन में कोई आशा नहीं, जिन्हें भूख-प्यास का कोई बोध नहीं वे एक के बाद एक

प्रचण्ड कष्ट सहते जा रहे हैं किसके लिए ? लेकिन वह हठ करना संभव नहीं हुआ। उन्होंने मुझसे कहा भी था— इस [illegible] मन को बेलुड़ मठ में छोड़ आया हूँ। इसके [illegible] हुआ यह तो आप जानते ही हैं। मैंने पहले ही कहा है—ठाकुर एवं महाराज मेरे पास एक हो गये हैं। वही लेकर सारा जीवन रहूँगा।

श्री गुरु के सान्निध्य में

—स्वामी आत्मनिष्ठानन्द

[३० अगस्त १९९८ को रामकृष्ण योगोद्यान मठ, कांकुड़गाछी (कलकत्ता) में आयोजित स्मृति सभा में अर्पित की गयी श्रद्धांजलि का सारांश—स० ।]

परम पूज्यपाद गुरुदेव के अपापविद्ध त्याग-संबल, सेवा-तत्पर तथा करुणावत्सल दैवी जीवन का रहस्योद्घाटन करना मुझ जैसे अनधिकारी के लिए असंभव है। अतएव मेरे अपूर्ण मन में उनके पूर्ण स्वरूप का जो आंशिक प्रतिबिम्ब अंकित है वही संक्षेप में व्यक्त करने की कोशिश करता हूँ।

पूज्यपाद महाराज के पास सबसे पहले मैं आया मठ में योगदान करने की मनोवासना लेकर। उस समय वे रामकृष्ण योगोद्यान मठ, कोकुड़गाछी (कलकत्ता) में थे। उन्होंने विभिन्न प्रकार के प्रश्न मुझसे पूछे। उनकी बातें मानो मधुमिश्रित थीं। बातों में कोई छल-कपट नहीं; सीधा, सरल एवं स्निग्ध बातें। मैं एकलौता पुत्र हूँ सुनकर उन्होंने कहा— मैं भी तो अपने माता-पिता का एकलौता पुत्र हूँ। पहले ही दर्शन में वे मुझे अपने लगे। ऐसा लगा कि वे मेरे गुरुजन हैं एवं मेरे कल्याण के सिवा और कुछ नहीं चाहते हैं। उन्होंने मुझे पुनः आने के लिए कहा। एक दिन मैं पुनः उनसे मिलने आया। वे ९ बजे भक्तों को दर्शन देते तथा उसके बाद अपने कमरे में थोड़ा विश्राम लेते। ठीक उसी समय मैं पहुँचा। वे बिछावन पर लेटे हुए थे। उन्होंने मुझको अपने कमरे में बुलाया तथा मेरे मुख पर हाथ फेरते हुए बच्चे की तरह मेरा आदर किया और अपने पास खींच लिया। उनकी आँखों को देखने से ऐसा लगा मानो वे किसी सुदूर लोक में विराज कर रहे हैं। अन्त में उन्होंने मुझे बीच-बीच में आने के लिए कहा। एक दिन आकर उनके पास हठ किया। मैंने उनसे कहा—महाराज, मैं तो जप-ध्यान करूँगा, आप एक शुभ दिन बता दीजिए। उनके पास ही आलमारी में पंजिका थी, उसे खोलकर एक दिन ठीक कर दिया। पुनः घर लौट गया। तब ऐसा लगता मानो वे मेरे लिए प्रतीक्षा किये बैठे हैं, जिस किसी उपाय से ही क्यों न हो मुझे योगोद्यान मठ में पहुँचना ही

होगा। अन्त में मैंने एक दिन मठ में योगदान किया। उन्होंने मुझे अपने छाती से लगा लिया। वह स्पर्श मैं कभी नहीं भूल सकता।

शुरू-शुरू में उनके कमरे में प्रवेश करने में संकोच होता। सोचता, वे कितने व्यस्त हैं, मेरे जाने से विघ्न होगा। इसीलिए बेधड़क उनके कमरे में प्रवेश नहीं करता। एक दिन उन्हें प्रणाम करने के लिए गया था। तब उन्होंने कहा—तुमलोग मेरे पास आते क्यों नहीं हो? मेरा दरवाजा तुमलोगों के लिए सब समय खुला हुआ है। जब इच्छा होगी मेरे पास आ जाना। कोई संकोच मत करो। इस तरह उन्होंने मुझे अपना बना लिया था।

उनके अन्दर कई भावों का सामंजस्य था। हमने श्री श्री ठाकुर के बालक-स्वभाव की बात पढ़ी है। पूजनीय महाराज के व्यवहार को देखकर हम उसी भाव का थोड़ा आभास पाते। इस सबंध में बहुत सारी घटनाएँ हैं। दृष्टान्त स्वरूप केवल एक घटना का उल्लेख यहाँ करता हूँ। रात में भोजन के बाद हमलोग महाराज के पास जाते। थोड़ा शास्त्र-पाठ होता, फिर विविध विषय के संबंध में बातचीत होती। महाराज भी हिस्सा लेते। एक दिन बातचीत बहुत जमी हुई थी और उधर महाराज के सोने का समय हो गया था। सेवक महाराज ने आकर कहा—आपके सोने का समय हो गया है, चलिए। किन्तु वे बालक की तरह अपने सेवक से थोड़ा और समय देने के लिए आग्रह करते हैं। लेकिन स्वास्थ्य के कारण उन्हें जाना ही चाहिए, इसीलिए सेवक महाराज हाथ पकड़ कर उनको उठाने की कोशिश करते हैं। इस पर महाराज ने कहा—"देखो, कैसा बदा है। मुझे उठाकर ले जा रहा है।" इस तरह उनकी बातें एवं व्यवहार बालक की तरह थे।

परन्तु ऐसा नहीं कि वे नरम स्वभाव के थे इसलिए उन्हें जो कुछ भी समझाने पर वे मान लेते। उनकी प्रत्येक बात में अकाट्ययुक्ति रहती तथा यदि कोई उन्हें कुछ कहता तो वे आशा करते कि वह भी अपनी बात युक्तिपूर्ण ढंग से कहेगा। अयौक्तिक कुछ बोलने पर वे पकड़ते तथा बोलने वाले को फिर आगे बढ़ना ही संभव नहीं होता। इस तरह की कई घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। अपने जीवन की एक घटना बताता हूँ। मैंने जब योगोद्यान मठ में योगदान किया तो मेरे कुछ गुरुजन महाराज को समझाने आये कि मैं अपने माता-पिता का इकलौता पुत्र हूँ। अतएव मठ में योगदान करना ठीक नहीं है। महाराज ने कहा—मैं भी तो एकलौता पुत्र हूँ। उस पर उन्होंने कहा—ठीक है, लेकिन संसार में रहकर भी तो साधन-भजन किया जा सकता है। यही समझा दीजिए। इस पर महाराज ने उत्तर दिया—देखो बापू, मैंने तो संसार में रहकर साधन-भजन किया नहीं, फिर मैं कैसे कहूँगा कि वह संसार में रहकर साधन-भजन करेगा। इस तरह प्रत्येक बात में ऐसी अकाट्य युक्ति देते कि और कुछ नहीं बोला जाता।

उनका प्रेम कैसा था, यह समझाना संभव नहीं है। पूजनीय महाराज के हृदय में जब पेस मेकर बैठाया गया तब डॉक्टर ने सलाह दी कि सभी समय उनके पास एक सेवक को रहना चाहिए। अतएव चौबीस घंटा एक-न-एक सेवक उनके पास रहता। रात को मैं उनके कमरे में सोता तथा महाराज जब पेशाब आदि करने जाते तब तो उनको पकड़कर बाथरूम में ले जाता। ऐसा नियम था कि महाराज को जब बाथरूम जाने की इच्छा होगी तो बत्ती जलायेंगे ताकि मेरी नींद खुल जाय और मैं उनको पकड़कर ले जाऊँ। लेकिन हमलोगों के प्रति उनकी इतनी करुणा थी कि कई दिन वे बत्ती जलाते ही नहीं, अंधकार में ही दीवाल को पकड़-पकड़ कर पैर को आस्ते-आस्ते रखते हुए चुपचाप बाथरूम चले

जाते ताकि मेरी नींद न खुल जाय। एक दिन मेरी नींद खुल गयी और मैं समझ गया कि महाराज मुझको बिना जगाये बाथरूम गये थे। मेरे मन में बहुत धिक्कार आया क्योंकि मैं अपना कर्त्तव्य पालन नहीं कर पाया। दूसरे दिन सुबह में मैंने उनसे कहा—मेरा तो कर्त्तव्य है आपको बाथरूम में ले जाना। आपने तो बत्ती जलायी नहीं और मैं सोया रहा। इस बीच यदि आपको कुछ होता तो मेरे ऊपर ही दोष पड़ता तथा अपने आपको ही मैं क्या उत्तर देता। महाराज चुपचाप सब सुने तथा दूसरे दिन से कभी उस तरह अंधकार में बाथरूम नहीं गये। बत्ती ठीक जलाते। जैसा उनका प्रेम था वैसी ही युक्ति के प्रति उनकी निष्ठा। इसीलिए मेरी युक्तिपूर्ण बातों को उन्होंने मान लिया। यदि युक्तिपूर्ण रूप से कोई चीज उन्हें समझायी जाती तो वे साथ-ही-साथ मान लेते।

वे हमलोगों के अभिभावक की तरह थे। हमलोगों की सुविधा-असुविधा की खोज-खबर वे सब समय लेते तथा नहीं बताने पर भी ठीक समझ जाते एवं तदनुरूप सहायता प्रदान करते। एक छोटी-सी घटना बताता हूँ। उत्सव के समय अधिक मनीआर्डर आता है। उन सब को प्राप्ति स्वीकार करना पड़ता है। अतएव अचानक कार्य बहुत बढ़ जाता है जिसको समय पर पूरा करना सम्भव नहीं होता। महाराज इसका ख्याल रखते और उत्सव के समय उनके पास जो भक्त आते उनमें से कुछ लोगों को मेरी सहायता करने के लिए भेज देते। मैंने कभी भी उनसे अपनी असुविधा की बात नहीं कही, लेकिन वे खुद भेज देते। वे सब समय सहायता करने के लिए तैयार रहते। मैंने जब मठ में योगदान किया तो वे मुझको पढ़ने-लिखने के लिए बहुत प्रोत्साहित करते। वे बोलते—संस्कृत व्याकरण अच्छी तरह पढ़ो। मैंने पढ़ना शुरू किया, लेकिन कुछ स्थानों पर समझ नहीं पा रहा था। महाराज को यह बात बताई। उन्होंने कहा— तुम मेरे पास आ जाना, मैं सब समझा दूँगा। फिर मैं उनके पास गया भी था और उन्होंने इतनी व्यस्तता के बावजूद मुझे समझाया था। उन्होंने कभी नहीं कहा कि अभी समय नहीं है, बाद में आना। केवल वे सहायता ही नहीं करते, वे सब समय हमलोगों की रक्षा करते। ब्रह्मचारी प्रशिक्षण केन्द्र में प्रवेश लेने के पहले मैंने मायावती आश्रम देखने की अपनी इच्छा उनसे व्यक्त की। वे राजी भी हो गये तथा जाना तय हो गया। उसी समय महाराज के एक प्रिय भक्त ने भी मेरे साथ जाने की इच्छा व्यक्त की। उन्होंने महाराज को यह बात बताई तथा कहा कि एक साथ जाने से ब्रह्मचारी महाराज को भी सहायता होगी। लेकिन महाराज ने अनुमति नहीं दी। उन्होंने कहा—वह अकेले जायेगा। भक्त ने बाद में मुझसे कहा कि चिड़िया जिस तरह पंख फैलाकर अपने बच्चे की रक्षा करती है उसी तरह महाराज आपकी रक्षा करते हैं। उस भक्त ने ठीक ही समझा था। असल में हमलोगों के जीवन में गृहस्थ जीवन से थोड़ा अन्तर रहना चाहिए। वही अन्तर वे बनाए रखने के लिए कहते तथा इसी वजह से उन्होंने मुझे अकेले जाने के लिए कहा था, किसी के ऊपर अवलम्बन करके नहीं। सदा सर्वदा उनकी सजग दृष्टि रहती तथा सूक्ष्म विषय पर नजर रखते तथा हमलोगों की रक्षा करते।

वे इतने बड़े थे, किन्तु उनका कोई अभिमान नहीं था। काकुड़गाछी में दुर्गा पूजा नहीं होती है। अतएव बेलुड़मठ में दुर्गा पूजा देखने की मेरी इच्छा हुई। किन्तु महाराज ने किसी कारणवश अनुमति नहीं दी। इससे मेरे मन पर आघात लगा तथा मैं मन-ही-मन असंतुष्ट था। किन्तु दूसरे ही दिन महाराज ने मुझे बुलाकर कहा—

मैंने अनुमति नहीं दी, इससे क्या तुम्हें आघात पहुँचा है ? नहीं, नहीं, तुम जाओ। मेरे मन पर आघात लगा है या नहीं—यह उन्होंने बुलाकर पूछा जो अभावनीय है, क्योंकि वे इतने बड़े हैं और मैं कहाँ एक शिशु। ऐसा था उनका अभिमानहीन व्यवहार।

उनको कई अवस्थाओं में मैंने देखा है। जप-ध्यान के समय भी उनको देखने का सुयोग हुआ है। सुबह में जब वे अपने कमरे में जप-ध्यान करने बैठते तब हमलोगों को कभी-कभी किसी कार्यवश वहाँ जाने का सुयोग होता। एक-एक दिन देखता वे एकदम वाह्य ज्ञान खोकर ध्यान में बैठे हुए हैं। आसपास में कौन क्या आवाज कर रहा है कुछ भी उनके कानों में नहीं जाती। १९९० ई० की बात है। उस समय मैं बेलुड़मठ में था। शिवरात्रि थी। वे शिव के मस्तक पर जल ढालने के लिए आये थे। प्रथम प्रहर की पूजा के बाद जल ढालकर ध्यान कर रहे हैं। महाराज के बाद सभी लोग जल ढालने वाले हैं, भारी धूम-धक्कड़ एवं शोरगुल मचा हुआ है। छोटा-सा स्थान। महाराज पास में ही बैठे हुए हैं। किन्तु उन्हें मानो कुछ भी पता नहीं है। एकदम स्थिर होकर बैठे हुए हैं। सेवक लोगों को डर लगता है, कोई महाराज के ऊपर गिर न जाय।

हमलोग जब उनसे पूछते कि किसी की आध्यात्मिक उन्नति हुई है या नहीं, यह कैसे समझेंगे तो कहते—आध्यात्मिक उन्नति हुई है या नहीं यह व्यक्तिगत चीज है दूसरों के लिए यह समझना संभव नहीं है। उसको समझने का एकमात्र उपाय है उस व्यक्ति का व्यवहार। हमलोग जब पूछते कि हमलोग आदर्श की ओर बढ़ रहे हैं या नहीं यह कैसे समझेंगे तो वे बताते कि मन ही मन विचार करके देखना कि ठाकुर के प्रति प्रेम दिनोंदिन बढ़ रहा है या नहीं तथा विषयों के प्रति आकर्षण कम रहा या नहीं। इससे समझोगे कि तुमलोग आदर्श की ओर बढ़ रहे हो या नहीं। कभी भी वे किसी दर्शनादि की बात हमें नहीं कहते। युक्ति की सहायता से आत्म विश्लेषण करना होगा।

विकास ही जीवन है और संकोच ही मृत्यु। प्रेम ही विकास है और स्वार्थपरता ही संकोच। अतएव प्रेम ही जीवन का एकमात्र नियम है। जो प्रेम करता है, वह जीता है; जो स्वार्थी है, वह मरता है। अतएव प्रेम के लिए प्रेम कर, क्योंकि प्रेम ही जीवन का एकमात्र नियम है।

—स्वामी विवेकानन्द

त्वमेव माता च पिता त्वमेव

श्री सुकुमार कुण्डु

[२२ अगस्त, १९९८ को बेलुड़ मठ में आयोजित स्मृतिसभा में अर्पित की गयी श्रद्धांजलि का सारांश। श्री कुण्डु महाराज के मन्त्र-शिष्य हैं एवं उन्होंने महाराज जी का बहुत दिनों तक सान्निध्य लाभ किया है। अनुवादक—स्वामी नित्यज्ञानानन्द—सं०।]

गुरुदेव को मैंने कितना देखा है, कितना समझा है—यह मैं नहीं बता सकता। केवल यह कह सकता हूँ कि उनके पास से जो स्नेह मैंने पाया है वह अपने जीवन में किसी के पास से नहीं पाया। शुरू-शुरू में जब बेलुड़ मठ आया था तब सोचा था--ठीक है, महीने में एक बार अथवा १५ दिनों में एकबार आकर ठाकुर को प्रणाम करके चला जाऊँगा। जब महाराज के पास दीक्षा हुई तब भी समझा नहीं कि हमलोग यहाँ इस तरह आयेंगे। लेकिन जितना ही महाराज के पास आने लगा उतना ही समझने लगा कि उनका एक विशेष आकर्षण मेरे ऊपर है। वे किस तरह मुझे आकर्षित करते हैं, यह युक्ति से समझा नहीं जा सकता। लेकिन मन से समझता, उनको नहीं देखने अथवा उनके बारे में चिंतन नहीं करने पर अच्छा नहीं लगता है। जो भी कार्य हो, उसे छोड़कर उनके पास आ जाता, उनके दर्शन करता, उनकी बातें सुनता। वे एकमात्र आकर्षण थे। ऐसा नहीं है कि यहाँ आने पर हम दूसरा कुछ पाते हैं। केवल महाराज का स्नेह, उनका प्रेम, अच्छी-अच्छी बातें। हमलोगों के मन का अज्ञान उन्होंने दूर कर दिया है। यह हमलोगों के बहुजन्म की सुकृति है कि उनके सान्निध्य में हम आये, उनकी कृपा पायी। मैं सात वर्ष से उनके पास आता हूँ। सात वर्ष में मैंने यही समझा है कि इससे अधिक प्रेम हमने जीवन में कभी नहीं पाया। यदि किसी दिन नहीं आता तो महाराज पूछते—सुकुमार आया नहीं? मेरी पत्नी के आने पर कहते—तुम आयी हो, उसको तो देखता नहीं हूँ। सोचता था—इतने लोग महाराज को प्रणाम करने आते हैं, उनमें से मैं नहीं आया, यह भी महाराज की दृष्टि में है। एक दिन महाराज मुझसे बोले—'सुकुमार कुण्डु घुरे गेलो मुण्डु' (अर्थात् सुकुमार कुण्डु का सिर फिर गया है यानि उसका जीवन बदल गया है।) मैं नहीं समझ पाया कि इस बात का क्या अर्थ है। मेरे बन्धु-बान्धव, आत्मीय-स्वजन बोलते हैं—तुम्हारा बहुत परिवर्तन हुआ है। तुमको हमने जो देखा है वह तुम अब नहीं हो। महाराज ने एक ही बात में समझा दिया कि मेरा कितना बड़ा परिवर्तन हुआ है।

३ अगस्त १९९८ को महाराज के साथ मेरी अन्तिम मुलाकात हुई। मैंने उनसे कहा—मेरी माँ नहीं हैं और मेरे पिताजी भी नहीं हैं। आप हमें देखेंगे। महाराज ठाकुर की छवि की ओर अंगुली दिखाकर बोले—वे ही तुम्हारी माँ हैं, वे ही तुम्हारे पिता हैं। यही महाराज के साथ मेरी अंतिम बातचीत है।

मेरी ही तरह कितने भाई-बहन हैं जो कितना कष्ट करके, कितना रास्ता तय करके, कितने रुपये खर्च करके, कितनी झंझट मोल लेकर यहाँ आते हैं। क्यों आते हैं? किसके आकर्षण से आते हैं? आज इस जनसमुदाय को देखकर वह आकर्षण समझ में आता है। मैं इतने दिनों से यहाँ आता हूँ लेकिन इतने लोगों का समावेश कभी नहीं देखा। देख-देखकर सोचता हूँ, मेरी ही तरह सभी हैं। जैसे मैं महाराज को प्रेम करता हूँ उसी तरह सभी उन्हें प्रेम करते हैं। नहीं तो इतने लोग आज यहाँ क्यों आते?

महाराज के सम्बन्ध में विशेष क्या बोलूँगा, मैंने उन्हें समझा ही कितना है? एक बात याद आती है। पूजनीय सारदानन्द जी महाराज से किसी ने कहा था—आपने श्री श्री माँ को नजदीक से देखा है, अतएव उनके सम्बन्ध में कुछ लिखिए। पूजनीय सारदानन्दजी महाराज ने एक कविता की आवृत्ति करते हुए कहा था—

तोर रंग देखे रंगमयी अवाक हयेछि।
हासिबो कि काँदिबो ताई बसे भावतेछि॥
विचित्र भवेर मेला भांगो गड़ो दुटि बेला;
ठिक जेनो छेलेखेला बुझते पेरेछि।
एतोकाल रइलाम काछे, बेड़ाइलाम पाछे पाछे,
चिनिते ना पेरे एखन हार मेनेछि॥

(अर्थात् हे रंगमयी, तुम्हारा रंग देखकर मैं अवाक् हूँ। अतएव हँसूँगा कि रोऊँगा—यह सोच रहा हूँ। इस भव का विचित्र मेला मानो बच्चों का खेल। सुबह और शाम बनाती हो और बिगाड़ती है। यह मैं समझ गया हूँ। इतने दिनों तक तुम्हारे पास रहा, तुम्हारे पीछे-पीछे घूमा, लेकिन तुम्हें न पहचान कर अब हार मान गया हूँ।)

मैं भी महाराज के पीछे बहुत दिन घूमा, लेकिन कुछ नहीं समझा! केवल इतना ही समझा हूँ कि महाराज हमें बहुत प्रेम करते एवं हमारी अज्ञानता दूर कर दी हैं। भगवान से एवं गुरुदेव से मेरी यही प्रार्थना है कि हम उन्हें याद रख सकें तथा उनके उपदेश पर विश्वास रखकर माँ एवं ठाकुर को अपना माता-पिता समझें।

जय गुरुदेव

—शोभा मनोत

आधे-अधूरे रिश्तों में
बिखरते हुए हम
जीवन के बहाव में
अनजाने अनचाहे बहते हैं।
क्यों ? किसलिए ? कहाँ ?
यह हमें जानना है
यह भी नहीं जानते हुए
ठीक वैसे ही—
जैसे कि ठाकुर ने माँ से कहा,
"लोग कीड़ों की ढेरी जैसे
अज्ञान के अंधेरे में
एक दूसरे पर किलबिला रहे हैं
तुम उन्हें देखना।"
ऐसे ही हम को
आपने देखा माँ सारदा बन
आपने अहसास कराया—
हमारे किलबिलाने का
हम देख-समझ पाये।
और हम ! सिहर उठे !
अपनी अवस्था देख
तब आपने ही तो माथे पर हाथ रखा
हमें भयभीत होने से बचाया
और अपनी स्नेह-दृष्टि से
उठा उस कीड़े की ढेरी से—
हमें सही पथ दिखलाया।
आप बन्धु ! आप सखा !
आप माँ ! आप पिता !
हर जिन्दगी के रिश्ते में
एक सच्चे निष्कपट पूर्ण रिश्ते
आप हमारे गुरुदेव !
आज हम सब एक साथ
आपके ध्यान के लिए संगी हुए हैं—
हर एक भाई-बहन के मुख से
आपकी हर बात अपनी लगती है।
आज आप एक से असंख्य हो गए हैं
और यह असंख्य आप में एक हो गया है
कैसा आश्चर्य ! कैसा चमत्कार !
आपके वियोग में नहीं बहातीं ये आँखें अश्रु
नहीं होता मुझे अभाव बोध
आपकी अंतिम विदाई की घड़ी
मैंने एक दृश्य की तरह देखी, द्रष्टा बन।
सबका रोना; सबका कष्ट
मुझे बेचैन करता पर
अंदर कोई विरह वेदना नहीं...
तो क्या मैंने आपको प्यार नहीं किया ?
आप जो मेरे सर्वस्व हो तो क्या
यह केवल मुँह की बात है ?
नहीं, ऐसा कुछ नहीं है
आपने मेरी ही चाही बात
मेरे भीतर घटाई
आपने कहा "भगवान् हमेशा रहते हैं।"
श्री ठाकुर ने कहा 'सच्चिदानद ही गुरु हैं"
शास्त्र कहते हैं "ईष्ट गुरु एक हैं"
मैं हमेशा मन-ही-मन कहती थी
मेरे तो आप ही सर्वस्व हो
प्रार्थना करती थी "गुरु ईष्ट एक ही हैं
यह अनुभव आप ही कराना।"
आपने मेरी प्रार्थना सुनी
आपने मेरी इच्छा पूर्ण की
आप सदा ही हो।
गुरु ईष्ट एक हैं
इसका साक्षी है मेरे लिए
मेरा नहीं होना
आपका होना मेरे होने में शामिल है
आप हमेशा हो मेरे गुरुदेव !

सद्गुरु की शरण में

—स्वामी नित्यज्ञानानन्द
बेलुड़ मठ

१६ फरवरी १९८१ को परम पूज्यपाद गुरुदेव (श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज) भक्तों पर कृपा करने के लिए पटना (बिहार) स्थित रामकृष्ण मिशन आश्रम में पधारे थे। १७ फरवरी को पूज्यपाद महाराज ने भक्तों को मंत्र दीक्षा दी। मैं भी उन भाग्यवानों में से एक था। १६ फरवरी को संध्या ५·३० बजे एक सभा का आयोजन किया गया था तथा पूज्यपाद महाराज ने सभापति का आसन अलकृत किया था। उस सभा में गुरु की महिमा पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा था—"यदि ईश्वर अप्रसन्न हो जायँ तो गुरु रक्षा कर सकते हैं, लेकिन यदि गुरु अप्रसन्न हो जायँ तो ईश्वर भी रक्षा नहीं कर सकते।" इसके बाद थोड़ा रुककर उन्होंने कहा था—"लेकिन सदा के लिए याद रखना कि गुरु कभी भी अप्रसन्न नहीं होते" आज १८ वर्ष बाद भी उनकी ये आश्वासवाणी मेरे कानों में गूँज रही है। १८ वर्षों तक उनका सान्निध्य लाभ करने के बाद आज मैं भी डंके की चोट पर घोषणा कर सकता हूँ—"गुरु कभी भी अप्रसन्न नहीं होते।" जो सद्गुरु हैं वे माता की तरह अपने शिष्यों के हजार दोष-त्रुटियों के बावजूद अपने स्नेह-सिंचन से उन्हें कभी वंचित नहीं करते हैं तथा सदा उनके कल्याण की कामना करते हैं।

गुरुदेव का आशीर्वाद शिरोधार्य कर रामकृष्ण मठ में योगदान करने की इच्छा से २८ नवम्बर, १९८६ को मैं काँकुड़गाछी (कलकत्ता) स्थित रामकृष्ण योगोद्यान मठ पहुँचा। उस समय पूज्यपाद महाराज वहीं रहते थे। मुझे देखकर वे बहुत ही आनन्दित हुए। मैं साधु होने के लिए आया हूँ जानकर उन्होंने मुझे एक कम्बल प्रदान किया तथा उसे बाँधने के लिए कहा। मैं कम्बल ठीक से नहीं बाँध पा रहा हूँ, देखकर स्नेहपूर्वक उन्होंने कहा—"देखो, साधु होने के लिए आये हो, अतएव कम्बल कैसे बाँधना चाहिए यह सीखना होगा।" इसके बाद अपने एक सेवक को बुलाकर उन्होंने कहा—"इसको कम्बल बाँधना सिखा दो।" कैसी उनकी कृपा थी! साधु के दो ही सम्बल हैं—हरिनाम और कम्बल। पूज्यपाद महाराज ने कृपा करके दोनों ही सम्बल मुझे प्रदान किये। अगले दिन उन्होंने आशीर्वाद देकर मुझे बेलुड़ मठ भेज दिया। तभी से मैं यहाँ हूँ तथा उनका दिया हुआ कम्बल आज भी मेरा सम्बल है।

मठ में योगदान करने के बाद मेरे पिताजी मुझे घर लौटा ले जाने के लिए बेलुड़ मठ आये थे। मैं घर लौटने के लिए राजी नहीं हो रहा था। यह देखकर किसी ने उन्हें सलाह दी कि यदि गुरुदेव आदेश करें तभी आपका लड़का घर लौट सकता है। अतएव गुरुदेव के पास जाकर वे अनुनय-विनय करने लगे। गुरुदेव ने उनके मस्तक पर हाथ फेरकर अच्छी तरह समझा-बुझाकर कहा—"देखो, मैं खुद संन्यासी हूँ। अतएव मैं कैसे उसे घर लौट जाने के लिए कह सकता हूँ?" बाद में वे कहा करते थे—"रामेश्वर के पिताजी आये थे उसे घर लौटा ले जाने के लिए। मेरे पास

आकर रोने लगे। मैंने उनके सिर पर हाथ रखकर, समझा-बुझाकर शांत किया।" इस तरह गुरुदेव यदि मेरी रक्षा नहीं करते तो क्या मेरे लिए साधु होना संभव होता ? बिना गुरु कृपा के कुछ भी सम्भव नहीं है।

मैंने शास्त्रों में पढ़ा था कि जिन्होंने ईश्वर-दर्शन किया है वे ही सच्चे गुरु हो सकते हैं। अतएव मेरे मन के अन्दर एक स्वाभाविक जिज्ञासा थी कि जिनको मैंने अपने जीवन का पथ-प्रदर्शक बनाया है उन्होंने ईश्वर-दर्शन किया है या नहीं। लेकिन यह प्रश्न उनसे कर भी कैसे सकता था ? अन्तर्यामी गुरुदेव ने कृपा करके स्वयं मेरे संदेह को एक दिन दूर कर दिया था। उनके सान्निध्य में आकर मैं यह अच्छी तरह जान पाया कि वे सद्गुरु हैं, भवरोग वैद्य हैं। शास्त्रों में सद्गुरु के जितने भी लक्षण बतलाये गये हैं वे सभी लक्षण उनमें विद्यमान थे। शास्त्र के अनुसार जो शास्त्रज्ञ हों, पवित्र हों, कामगन्धहीन हों, ब्रह्मविद् हों, ईंधनरहित अग्नि के समान शान्त हों, अकारण दयासिन्धु हों और शरणागत-वत्सल हों, वही सच्चे गुरु हैं। ये सभी गुण उनके अन्दर थे।

प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण कैसे हो, यही उनकी एकमात्र चिन्ता रहती थी तथा उनके प्रेम की कोई तुलना नहीं थी। भगवान श्रीरामकृष्णदेव के मातृभाव का विशेष प्रकाश उनके अन्दर था। कोई-कोई भक्त तो उन्हें 'माँ' कहकर ही पुकारते थे। उनके सान्निध्य में आने का सौभाग्य जिन लोगों को प्राप्त हुआ था वे आज उनके अलौकिक प्रेम की बात याद कर भाव-विह्वल हो जाते हैं। वे सबकी खबर रखते। यदि कोई बहुत दिनों तक उनके पास नहीं आता तो वे अधीर हो उठते एवं मुलाकात होने पर बीच-बीच में आते रहने को कहते। मेरे प्रति भी उनकी एक ही शिकायत थी— "रामेश्वर तो मेरे पास आता ही नहीं है।" उनके इस प्रेम में बँधकर सभी उनके पास दौड़े आते। वे जहाँ कहीं भी जाते, भक्तों की भीड़ लग जाती।

रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के महाध्यक्ष बनने के बाद वे अधिकांश समय बेलुड़ मठ में ही रहते। मठ के नियमानुसार मठस्थ साधु-ब्रह्मचारी प्रतिदिन महाध्यक्ष महाराज के चरणों में प्रणाम निवेदन करने जाते हैं। सभी साधु-ब्रह्मचारी उनके दर्शन के लिए उत्सुक रहते तथा प्रणाम का समय (जाड़े के दिनों में सुबह के साढ़े सात एवं गर्मी के दिनों में सुबह के सात) होते ही उनके निवासस्थान की ओर दौड़े जाते। प्रणाम के समय विविध विषयों पर वार्तालाप होते। उस समय उनके अथाह ज्ञान - भण्डार का थोड़ा-बहुत परिचय हमें प्राप्त होता। कोई भी विषय क्यों न हो, वे उसकी गहराई में जाकर उस पर विशेष प्रकाश डाल सकते थे।

उनके प्रति साधु-ब्रह्मचारियों का जितना आकर्षण था उससे कहीं अधिक आकर्षण साधु-ब्रह्मचारियों के प्रति उनका था। यदि किसी कारणवश कुछ दिनों तक प्रणाम बन्द रहता तो वे हमसे मिलने को बेचैन हो जाते। चिकित्सादि कार्यवश मठ से बाहर कुछ दिनों तक रहने के बाद वे मठ लौटने के लिए अधीर हो उठते। हमलोगों को देखकर उनका वात्सल्य भाव उमड़ पड़ता था। हमलोग भी बच्चे की तरह उनसे कभी-कभी चॉकलेट आदि देने के लिए हठ करते। पहले तो वे 'ना, ना' करते, लेकिन हार उनकी ही होती, हमलोग कांक्षित वस्तु प्राप्त करते और वे प्रेमपूर्ण नेत्रों से देखते। सभी निर्भय होकर उनके पास जाते। वे संघाध्यक्ष थे, फिर भी नवागत ब्रह्मचारी भी उनके पास जाने में कोई संकोच या भय का अनुभव नहीं करता। मित्र की तरह सब बातें उनसे खुलकर की जा सकती थीं।

युगावतार श्री रामकृष्णदेव सदानन्दमय पुरुष थे। नरेन्द्रादि युवक-भक्त जब उनके पास आते

तो हास्यरस से भरपूर कहानियों, चुटकुलों एवं घटनाओं को उनसे सुनकर तथा व्यंग्यचित्रात्मक उनकी अंग-भंगिमाओं को देखकर हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते। उसी सदानन्दमय पुरुष को हमने श्री गुरुदेव के अन्दर देखा। जब हम उनके पास जाते तो वे भी उसी तरह हमारा मनोरंजन करते। उनकी बात-बात पर हँसी की लहर उठती। जो लोग बाहर रहते वे केवल ठहाके की आवाज सुनते। कहानियाँ कहने, चुटकुले सुनाने तथा हास्यपरक घटनाओं का वर्णन करने की उनकी शैली अपूर्व थी। साथ ही विभिन्न भाव-व्यंजक शारीरिक मुद्राओं के प्रदर्शन में वे माहिर थे।

उनका स्वभाव शिशुवत् था। पाँच वर्ष के बालक के समान उनके सभी व्यवहार सहज और निष्कपट होते।

उनकी मेधाशक्ति भी अद्भुत थी। किसी भी चीज अथवा घटना को एक बार गौर से देख, सुन या पढ़ लेने पर सदा के लिए उनके स्मृतिपटल पर अंकित हो जाता तथा बाद में उसकी हू-ब-हू पुनरावृत्ति वे कर सकते थे। उनके श्रीमुख से कई घटनाओं को एकाधिक बार सुनने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ था। प्रत्येक बार ठीक एक ही तरह का वर्णन, एक भी शब्द इधर-उधर नहीं। शरीर-त्याग के कुछ दिनों पहले हमलोगों के विशेष अनुरोध पर उन्होंने अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों की कुछ घटनाओं को हमें सुनाया था। प्रत्येक घटना का इतना सही एवं सजीव वर्णन कि मानो कल ही घटी हो। वार्त्तालाप के क्रम में जब वे लौकिक साहित्य अथवा धार्मिक ग्रन्थों से उद्धरण प्रस्तुत करते तो हमलोग आश्चर्यचकित हो जाते। प्रत्येक उद्धरण की सटीक आवृत्ति, मानो सभी साहित्य उन्हें कण्ठस्थ हैं। इतनी उम्र में ऐसी स्मृति किसी ने भी नहीं देखी। उनकी जिह्वा पर सरस्वती विराज करती थी। वे अति प्रत्युत्पन्नमति थे। इसका प्रमाण उनके साथ कथोपकथन के समय मिलता।

शास्त्रों में लिखा हुआ है कि श्री गुरु के शरणापन्न होकर, उनकी सेवा करके तथा उनसे जिज्ञासा करके ईश्वरीय-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसके विपरीत उनके पास हमें कुछ भी नहीं करना पड़ता। वे खुद हमें अपने पास खींचकर हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए सदा तत्पर रहते थे। जब भी हम उनके पास जाते, वे हमें आध्यात्मिक प्रश्न पूछने के लिए कहते तथा उन प्रश्नों के उत्तर देकर हमारे सभी सन्देहों एवं द्वन्द्वों को दूर कर देते। जटिल से जटिल आध्यात्मिक तत्त्वों को भी वे इतने सहज एवं सरल ढंग से समझाते कि एक बालक भी समझ सके। वार्त्तालाप के क्रम में अन्य विषयों की चर्चा अधिक होने पर वे कहते—"आज क्या कोई अच्छा प्रसंग नहीं होगा?" सभी उनसे प्रश्न करने का साहस नहीं करते; अपने प्रश्नों को कागज पर लिखकर प्रधान प्रश्नकर्त्ता के पास जमा कर देते। अतएव महाराज बीच-बीच में पूछते—"प्रश्न-पत्र कहाँ है?" हमारे संदेहों को दूर करने में वे इतने तत्पर थे! उनकी ऐसी अहेतुकी कृपा थी!

मानसिक सतर्कता तथा युक्ति की सहायता से आत्म-विश्लेषण पर वे विशेष जोर देते। अपने कर्तव्य के प्रति निष्ठा उन्हें विशेष प्रिय थी। युक्ति-पूर्ण विचार की सहायता से सभी समस्याओं का समाधान-सूत्र खोजने को कहते। दूसरों को उपदेश देने की अपेक्षा अपने खुद के जीवन का निर्माण करना उनकी दृष्टि में अधिक अच्छा था।

ऐसे सद्गुरु की शरण में आने तथा उनकी कृपा प्राप्त करने का देवदुर्लभ सौभाग्य पाकर हम कृतार्थ हैं। उनसे मेरी यही प्रार्थना है कि वे हमें शक्ति प्रदान करें ताकि हम उनके निर्दिष्ट पथ पर चलकर श्री प्रभु के चरणों तक पहुँच सकें।

जय गुरुदेव!

एक अत्यन्त सरल व्यक्तित्व

—स्वामी उरुक्रमानन्द
रामकृष्ण मिशन, रायपुर

श्रीरामकृष्ण कहते थे कि सरल हुए बिना भगवान् की प्राप्ति करना असम्भव है तथा सरलता कई जन्मों की तपस्या के पश्चात् किसी में पाई जाती है। परम पूज्य स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज सरलता एवं सौम्यता के मूर्तिमान विग्रह थे। उनकी इस सरलता तथा मुखपर निश्चल हँसी ने हमेशा मुझे प्रभावित किया है।

सम्पादक महोदय डॉ० लाभ जी ने जब उनके कुछ संस्मरण लिखने हेतु मुझसे कहा तो मैंने सोचा कि मुझे तो पूज्य महाराज के साथ साहचर्य करने का कोई विशेष अवसर प्राप्त नहीं हुआ, तो भी रामकृष्ण संघ के एक साधारण सदस्य की हैसियत से कई बार उनकी वाणी सुनने के अवसर अवश्य ही प्राप्त हुए हैं। वे ही मेरे ब्रह्मचर्य एवं संन्यास-दीक्षा के गुरुदेव थे। उनके विषय में अल्प-सा भी लिखकर मैं स्वयं को धन्य समझूँगा।

बात उन दिनों की है जब मैं P. P. T, C. (Pre-Probationers' Training Centre), बेलुड़ मठ का एक नवीन ब्रह्मचारी था। वह दिसम्बर, १९८८ का समय था। परम पूज्य गम्भीरानन्द जी महाराज ने २७ दिसम्बर १९८८ को महासमाधि ले ली थी। उस दिन प० पूज्य स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज रामकृष्ण मिशन, टाकी में निवास कर रहे थे। खबर पाकर वे मठ आए थे। सम्भवतः इसी दौरान मैंने सर्वप्रथम पूज्य महाराज का दर्शन-लाभ किया था। इसके तुरन्त बाद ही हम दो ब्रह्मचारियों को तूफान-राहत-कार्य हेतु उपरोक्त टाकी आश्रम भेज दिया गया था। एक-दो माह बाद पूज्य महाराज महाध्यक्ष होकर काँकुड़गाछी आश्रम से बेलुड़ मठ आ गए थे। इधर जून, '८९ में उस तूफान-राहत-कार्य से मुझे छुट्टी मिली एवं रामकृष्ण मठ पुणे जाने का आदेश हुआ। पुणे जाने के पहले मैं पूज्य महाराज से विदा लेने तथा आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए उनके पास गया। सेवक महाराज ने उनके कानों में बताया कि यह ब्रह्मचारी पुणे जा रहा है एवं आशीर्वाद लेने आया है। मेरे प्रणाम करने पर उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या तुम मराठी जानते हो?" मैंने कहा, "हाँ महाराज, थोड़ी-थोड़ी जानता हूँ।" इसपर उन्होंने फिर पूछा, "क्या हिन्दी जानते हो?" मैंने हामी भर दी। तब महाराज ने एक बड़ी मजेदार बात कही। उन्होंने बताया कि वे एक बार दिल्ली जा रहे थे। रेलगाड़ी दिल्ली के निकट पहुँची, तो पूज्य महाराज बोल उठे, "दिल्ली आ गया।" किसी ने उन्हें सुधारते हुए कहा, "महाराज दिल्ली आ गया, ऐसा नहीं कहना चाहिए, यह गलत है, कहिए कि दिल्ली आ गई।" पूज्य महाराज ने मुझसे कहा कि तुम हिन्दीवाले लिंग को लेकर खूब खींचातानी किया करते हो। यह कहकर वे स्वयं बालक की भाँति हँसने लगे। उनकी वह मूर्ति आज भी मेरी आँखों के सामने आ जाती है। कैसी सरल किन्तु गम्भीर आँखों से देखते हुए तब उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया था।

इसके पश्चात् वे एक बार १९९० के जनवरी-फरवरी माह में दीक्षा देने हेतु पुणे आए थे। वहाँ पर वे साधु-ब्रह्मचारियों से रात में मिला करते

थे। उस समय की दो-एक बातें मुझे आज भी स्पष्ट रूप से याद हैं। किसी ने उनसे प्रश्न किया था कि गुरु का ध्यान किस तरह करना चाहिए ? तब उन्होंने कहा था कि सच्चिदानन्द परब्रह्म ही मनुष्य-रूप लेकर भक्त का कल्याण करने हेतु अवतरित हुए हैं, ऐसा समझकर सहस्रार में उनका ध्यान ज्योतिर्मय रूप में करना चाहिए। गुरु को कभी-भी साधारण मनुष्य न समझकर, वे परमात्मा का ही स्वरूप हैं, ऐसी धारणा करनी चाहिए। उन्होंने स्वयं को इंगित कर अंग्रेजी में कहा था, "This Guru (body) will die, but Satchidananda Guru will never die. He is immortal."

गुरु-विषयक और भी अनेक बातें उस रात उन्होंने विस्तारपूर्वक कही थीं, जिससे मेरी अनेक शंकाओं का समाधान हुआ था। तब अन्त में मैंने एक प्रश्न पूछा था, "महाराज जी, माला किस तरह जपना चाहिए ?" इसके उत्तर में उन्होंने कहा, "अरे, माला-जप से कर-जप (उँगलियों पर जप) श्रेष्ठ है। देखो न, कर-जप तुम कहीं भी, किसी भी परिस्थिति में कर सकते हो। परन्तु माला-जप में यह सुविधा नहीं होती।"

इसके पश्चात् मेरी उँगलियों को पकड़कर माला किस तरह फेरना होता है, यह सिखला दिया था। यह भी कहा था कि माला को तर्जनी से छूना नहीं चाहिए। अहा ! यह सब बात कितनी सादगी एवं सरलता से सिखा दी थी, आज सोचकर भावुक हो उठता हूँ। समय अधिक हो रहा था, इसीलिए सेवक महाराज ने कमरे से बाहर जाने लिए कह दिया था। हम चले गए। सबसे अधिक मुझे उनके सरल व्यवहार ने आकृष्ट किया था। इसके उपरान्त १९९३ से १९९५ तक बेलुड़ मठ के प्रशिक्षण केन्द्र में संध्या-प्रणाम के वक्त निरन्तर उनका दर्शन एवं सत्संग-लाभ हुआ था। वे इतने सरल थे कि यह समझना ही कठिन था कि वे एक उच्च कोटि के शास्त्र-पण्डित भी थे। इस दौरान साधुओं के जटिल-से-जटिल प्रश्नों को शास्त्र का सहारा लेकर वे किस विद्वत्ता से सहज ही सुलझा दिया करते थे, यह सर्वविदित है। इस संध्या-प्रणाम के दौरान सदैव शास्त्र-चर्चा हुआ करती हो, ऐसी बात नहीं थी। कभी-कभी पूज्य महाराज ऐसी चुटकी लिया करते थे अथवा ऐसी बात कह देते थे जिससे हँसी का फव्वारा फूट पड़ता था। ९४-९५ वर्ष की आयु में ऐसी स्मरण-शक्ति एवं विनोद प्रियता किसी को भी दंग कर सकती थी। ऐसी ही एक साधुओं की मंडली में बेलुड़ मठ में मच्छरों के उत्पात के विषय में हास-विनोद हो रहा था। इस पर पूज्य महाराज ने अनुमोदन करते हुए कहा, "हाँ, बेलुड़ मठ के मच्छर बड़े चालाक हैं। मानो मसहरी को उठाकर भीतर घुस पड़ते हैं।" उनकी इस बात पर कमरा हठाकों से भर गया। प्रत्युत्पन्न मतित्व में पूज्य महाराज की कोई सानी नहीं थी।

एक अन्य दिन किसी साधु ने समवेत साधु-मण्डली की उपस्थिति में कहा, "महाराज, आज एक बड़ी मजेदार घटना घटी है।" पूज्य महाराज ने पूछा, "कैसी ?" तब उक्त साधु ने कहा कि पंजाब से एक टूरिस्ट-बस मठ में सुबह आयी थी। बस वाले यात्रीगण जब माँ सारदा के मन्दिर के पास पहुँचे तो हठात् बोल उठे, "अहा ! कितना बड़ा तालाब है।" वे साधु वहीं से गुजर रहे थे। उन्होंने बताया कि यह तालाब नहीं, गंगा नदी है। तब तो "जय गंगा मैया" कहते हुए यात्री लोग स्नान करने लपके। पूज्य महाराज यह घटना सुनकर सचमुच ही बच्चों की तरह जोर-जोर से हँसने लगे। उनकी वह सरल हँसी आज भी मेरे मानस-पटल पर दृढ़तापूर्वक अंकित है। कैसी निर्मल हँसी !

ऐसे कितने ही प्रसंग हैं जिनकी स्मृति-मात्र से

ही आनन्द होता है। स्थानाभाव की वजह से उन्हें लिखना सम्भव नहीं। तो भी एक प्रसंग विशेष उल्लेखनीय है, जिसे स्वयं पूज्य महाराज ने बताया था। उन दिनों पूज्य महाराज उत्तरकाशी में तपस्यारत थे। वहाँ भिक्षा हेतु अन्न-क्षेत्र में जाया करते थे, जहाँ एक बलिष्ठ पंजाबी साधु भी भिक्षार्थी होकर आते थे। दाल और रोटी सीमित रूप से मिला करती थी। दाल कम परन्तु पानी ही अधिक। वे पंजाबी साधु हर वक्त जोर देकर कहते, "अरे भाई। जरा गाढ़ी-गाढ़ी दाल देना।" यह रोजमर्रा की बात थी। पूज्य महाराज ने कहा था कि एक बार उक्त साधु को दस्त लग गया। भिक्षा के वक्त इस बार वे अशक्त होकर बोले, "पतली-पतली दाल देना, भाई।" पूज्य महाराज 'पतली-पतली दाल' कुछ इस ढंग से बोलते थे कि कमरा ठहाकों से गूँज उठता था।

इस तरह बेलुड़ मठ में प्रशिक्षण केन्द्र के दो वर्ष आनन्दपूर्वक व्यतीत हुए जब अन्ततः जनवरी '९५ माह में पूज्य महाराज से मुझे ब्रह्मचर्य-दीक्षा प्राप्त हुई। तब से मैं मनाया करता था कि पूज्य महाराज से ही मुझे संन्यास-दीक्षा भी प्राप्त हो। १ मार्च १९९८ को मेरी वह इच्छा भी पूर्ण हुई जब श्रीरामकृष्ण की तिथि-पूजा के दिन मैंने अन्य ४० ब्रह्मचारियों के संग पूज्य महाराज से ही संन्यास-दीक्षा पायी। हमारा दल ही अत्यन्त भाग्यशाली रहा क्योंकि पूज्य महाराज से संन्यास दीक्षा लेने वाला हमारा दल ही अन्तिम दल था, इसके पाँच महीने बाद ही पूज्य महाराज ने महासमाधि ले ली।

अगस्त माह में जिस वक्त पूज्य महाराज को अत्यन्त गम्भीरावस्था में अस्पताल ले जाया गया था, उसका बड़ा ही मार्मिक वर्णन मठ के एक भाई ने मुझे लिखित अपने पत्र में किया था। साधुगण पूज्य महाराज के कल्याणार्थ जप किया करते थे। परन्तु, 'अपने मन कछु और है विधना के कछु और।' वैसे पूज्य महाराज ने कई बार संकेत दे दिये थे कि वे अपने ९८ वर्ष के पहले ही इह-लीला समाप्त कर चले जाएँगे। इनमें से कुछ निम्न-लिखित हैं—

कुछ महीने पहले सिल्चर के महन्त महाराज मठ में आए थे। वे दोनों राजकोट आश्रम में साथ रहे थे। काफी गप-शप के उपरान्त जब वे जाने को उद्यत हुए तो पूज्य महाराज सहसा बोल उठे, "ब्रज की लीला समाप्त हुई, इस बार हे राखाल, चलो लौट चलें।" इसपर एक साधु चमक उठे एवं उन्होंने पूज्य महाराज से ऐसा कहने का तात्पर्य पूछा। पूज्य महाराज केवल हँसने लगे।

पूज्य स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज साधु भाइयों को बता रहे थे कि कुछ माह पहले अपनी विदेश-यात्रा पर जाते वक्त वे जब पूज्य महाराज से बोले कि आपको छोड़कर जाने की इच्छा नहीं हो रही है। इस पर पूज्य महाराज बोले कि तुम अवश्य जाओ, मुझे कुछ न होगा। विदेश-यात्रा से लौटने के १० दिनों के पूर्व उन्होंने जब फोन पर पूज्य महाराज को बताया कि १० दिनों बाद ही आऊँगा, तो पूज्य महाराज बोले, "दस दिन? इतनी देर।" इस पर पूज्य सत्यकृष्ण महाराज ने कहा कि ठीक है, दो दिनों में ही चला आऊँगा जिसपर पूज्य महाराज ने जताया कि अपने पूर्व-निर्दिष्ट समय पर ही आओ, परन्तु उससे अधिक बिलम्ब न करना। ४ अगस्त, १९९८ को पूज्य सत्यकृष्ण महाराज आए एवं प्रणाम करने गए तब पूज्य महाराज ने इस करुण दृष्टि से उन्हें देखा जो पूज्य सत्यकृष्ण महाराज को अच्छी न लगी। उसके अगले ही दिन पूज्य महाराज अस्पताल चले गए एवं फिर कभी न लौटे।

१० अगस्त, १९९८ को पूज्य महाराज ने

(शेष पृष्ठ ४४ पर)

भक्तवत्सल के चरणों तले

मंजु नन्दी मजुमदार

अति शैशवकाल में ही (जब मेरी आयु ५/६ साल की थी) मैंने पूजनीय महाराज को ढाकुरिया में प्रणाम किया था। पड़ोस की एक वृद्धा माता जी मुझे बहुत स्नेह करती थीं। वे ही मुझे अपने भाई के घर रामकृष्ण मिशन के एक बड़े साधु के दर्शनार्थ ले गयी थीं। अपने आँचल से चार आना पैसा मेरे हाथ में देकर कहा था—यह प्रणामी देकर महाराज को प्रणाम करो। मैंने भी खूब भक्तिपूर्वक प्रणाम किया था। उस समय क्या मैं जानती थी कि अपने गुरु को ही मैंने प्रणाम किया है?

योगोद्यान में पूजनीय महाराज के दर्शन हुए थे दिनांक २०-२-८१ को! घनायमान सन्ध्या के पवित्र शान्त परिवेश में महाराज को प्रणाम करके खूब आनन्द हुआ था। सभी के प्रणाम हो जाने के बाद अन्दर जाने के समय मैंने महाराज से दीक्षा लेने की इच्छा व्यक्त की थी। पूजनीय महाराज ने कहा था—'हाँ, माँ, दीक्षा होगी! किसी दूसरे दिन आना।' अगले महीने के प्रारम्भ में ही मेरी दीक्षा हो गयी, मैंने नया जन्म प्राप्त किया।

योगोद्यान मठ में हमलोगों ने खूब आनन्द किया है। हमलोगों को ऐसा लगता मानो पिता के घर माँ के पास आयी हूँ। सुबह में दो बार पूजनीय महाराज के प्रणाम होते। साढ़े आठ बजे से साढ़े नौ बजे तक। उसके बाद महाराज स्नान करके साढ़े दस बजे पुनः प्रणाम ग्रहण करते। एक ओर पुरुष भक्त बैठते और दूसरी ओर माताएँ बैठतीं। बीच में संकीर्ण रास्ता। महाराज की कुर्सी दीवार के पास रहती तथा वे दक्षिण की ओर मुंह करके बैठते। स्त्री भक्तों में अधिकांश प्रथम पंक्ति में, खासकर महाराज की कुर्सी के सामने बैठना चाहतीं क्योंकि जो सामने बैठती वह थोड़ी-थोड़ी देर बाद महाराज के श्री चरणों में भक्तों के द्वारा अंजलि दिये गए फूल एवं फूल की मालाओं को हटाने का सुयोग पाती। अतएव जितनी बार फूल हटाना होता उतनी बार पूजनीय महाराज के श्रीचरणों को स्पर्श कर प्रणाम करने का दुर्लभ सुयोग पाया जाता।

जाड़े के दिनों में दोपहर के समय प्रसाद पाकर निकलते समय देखती भीतर के आंगन में तुलसी कुंज के पास धूप में बैठकर पूजनीय महाराज अखबार पढ़ रहे हैं। वहाँ भी पूजनीय महाराज को प्रणाम करने का सुयोग हमने पाया है। अवाक् होकर सोचती—महाराज की कृपा का अन्त नहीं है।

एक बार जन्माष्टमी के दिन योगोद्यान पहुँचकर सुना—निर्धारित समय के पहले ही महाराज का प्रणाम बन्द हो गया है। पूजनीय महाराज का स्वास्थ्य ठीक नहीं है, पूर्वाह्न में अब प्रणाम नहीं होगा। मन बहुत खराब हो गया। मन्दिर में जाकर ठाकुर के दर्शन किये, झर-झर कर नेत्रों से अश्रु गिरने लगे, रोने लगी। ठाकुर को प्रणाम करके कहा—हे ठाकुर, महाराज को आज प्रणाम नहीं कर सकी, अतएव आज यहाँ प्रसाद ग्रहण

असाधारण परिवेश उस दिन बना था। नीरब श्रोता हमलोग! उस स्वर्गीय अनुभूति का हमलोगों ने अपने हृदय के अन्तःस्थल में यत्नपूर्वक संचय करके रखने की कोशिश प्राणपण से की थी। उस दिन पूजनीय महाराज के कमरे से निःशब्द निकलते समय टप-टप करके बारिश हो रही थी। माँ के मन्दिर में प्रणाम करके ब्रह्मानन्द जी महाराज के मन्दिर में प्रणाम करने के समय मूसलाधार वर्षा शुरू हो गयी थी, वर्षा के पर्दा के भीतर से कुछ भी अच्छी तरह दिखाई नहीं दे रहा था। गंगा, गाछ-वृक्ष, मन्दिर—सभी एकाकार हो गये थे। वह मानो दूसरा कोई जगत् था। वर्षा बन्द होने पर ठाकुर को प्रणाम करके नीरव घर लौटी थी।

('सारदा कल्याण'– विशेष संख्या १९९९ से साभार संकलित एवं अनूदित)

□

(पृष्ठ ४० का शेष)

शरीर छोड़ा। उनके करीब एक लाख इक्कीस हजार से भी अधिक मन्त्र-दीक्षित शिष्य हैं जो यह खबर सुनकर शोक-सागर में डूब गये। मठ में उस दिन एवं दूसरे दिन इतनी भीड़ इकट्ठी हुई जो एक अभूतपूर्व घटना थी। मठ के पुराने साधुओं का कहना था कि इसके पहले इतनी भीड़ उन्होंने कभी न देखी थी। तेरहवीं के दिन भी मठ लोगों से पटा पड़ता था। उस दिन भी लगभग सवा लाख लोग मठ में आए थे तथा करीब ७० हजार लोगों को भोजन के पैकेट प्रदान किये गये। खाना बनाने के लिए ३०० रसोइये एवं ६०० स्वयंसेवी भक्तगण थे। जितना खर्च हुआ, उससे दुगुना दान में आ गया।

समारोह धूमधाम से सम्पन्न हुआ था तो अवश्य, परन्तु उसकी प्राण-शक्ति कहीं खो गई थी। सब कुछ यन्त्रवत् हुआ।

पूज्य महाराज की वह सरल मूर्ति, सद्गुरु का वह आशीर्वाद एवं अनेक-अनेक मधुर स्मृतियाँ ही आज भक्तगणों के जीवन का आधार बन गयी हैं।

परम पूज्य स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज का सरल तथा दिव्य साधु-जीवन सतत् हमारी प्रेरणा का उत्स बना रहे एवं हम ईश्वराभिमुख हो अपने जीवन को धन्य करें—यही प्रार्थना भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के चरण-कमलों में निवेदित है।

एक स्मरणाञ्जलि

प्रो० डॉ० जनक भाई जी दबे
अनुवादक—प्रो० डॉ० भूलिका त्रिवेदी

श्रीरामकृष्ण मठ-मिशन के बारहवें परमाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज १० अगस्त १९९८, सोमवार दोपहर २.३८ बजे अन्ठानवें वर्ष की उम्र में ब्रह्मलीन हो गये।

सन् १९४५ से १९६५ तक राजकोट के रामकृष्ण आश्रम के अध्यक्ष पद पर रहकर उन्होंने समग्र गुजरात में सेवा की सुगंध फैलायी थी। उस समय मैं एक विद्यार्थी के रूप में आश्रम में था जिसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। सन् १९५४ से ५८ तक मुझे उनके संपर्क में रहने का मौका मिला। विशेषकर स्वामी विवेकानन्द शताब्दी के अवसर पर ग्रन्थमाला के प्रकाशन समय स्वामी जी के साथ सतत कार्यरत रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

स्वामी भूतेशानन्दजी की जन्मभूमि भले बंगाल थी, परन्तु वे २० वर्ष तक गुजरात को अपनी कर्मभूमि बनाकर रहे। उन्होंने शिक्षण संस्कार और धर्म का त्रिवेणी-संगम रचा था। उनके मार्गदर्शन में 'बहुजन हिताय' की विविध प्रवृत्तियाँ राजकोट-सौराष्ट्र, कच्छ एवं समग्र गुजरात में निरन्तर चलती रही।

स्वामी भूतेशानन्दजी की बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने कभी भी रामकृष्ण-विवेकानन्द के विचारों को किसी पर जबरदस्ती नहीं लादा, परन्तु अपने जीवन में आचरण करके समाज के बड़े वर्ग तथा युवा पीढ़ी को आकर्षित किया। वे त्योहार के दिन तथा प्रत्येक शनि-रवि उपनिषद् या किसी ग्रंथ को केन्द्र में रखकर अंग्रेजी या गुजराती भाषा में व्याख्यान देते थे। इस तरह उनकी ज्ञान-गंगा दो दशक तक बहती रही। शास्त्रों के अर्थघटन के लिए प्रमाण सिद्ध व्यक्ति के रूप में स्वामी भूतेशानन्द जी का नाम गौरव के साथ लिया जाता है।

स्वामीजी बंगाली भाषा के निष्णांत तो थे ही परन्तु अंग्रेजी इतनी अच्छी थी कि फटाफट बोलते थे। उनकी गुजराती में व्याकरण-दोष रहता था, फिर भी भावों को व्यक्त करनेवाली उनकी अमृत-वाणी श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध कर देती थी। प्रायः वे जनता के सामने गुजराती में बोलते थे ताकि सामान्य जन भी समझ सके।

श्रीरामकृष्ण आश्रम के साथ संलग्न 'छात्रालय' आश्रम का अभिन्न अंग था, आज भी है। इसमें जातपाँत और धर्म के भेदभाव बिना विद्यार्थी प्रवेश पाते हैं और अध्ययन करते हैं। अब तो वह छात्रालय विशाल एवं सुविधापूर्ण बन गया है, परन्तु उसकी नींव में स्वामी भूतेशानन्दजी का महत्वपूर्ण का योगदान रहा है। ग्राम्यविस्तार से आए हुए तेजस्वी विद्यार्थी अच्छे प्रतिशत लेकर सफलता प्राप्त करें यह मुख्य उद्देश्य हैं। आर्थिक संकट के कारण जो पढ़ नहीं सकते ऐसे विद्यार्थियों को आश्रम में रहकर अध्ययन करने की सुविधा मिलती थी। स्वामीजी गरीब विद्यार्थियों के लिए धनी दाताओं से दान ले आते थे। इस तरह अनेक विद्यार्थियों ने 'फ्री बोर्डर' के रूप में आश्रम में रहकर अभ्यास किया है। जिनके पिताजी प्रायः सामान्य नौकरी करते थे। ऐसे मेरे अनेक मित्र आश्रम में रहकर आगे बढ़ सके हैं। मैं इसका

साक्षी हैं। सौभाग्य से इनमें से आज अनेक विद्यार्थी उच्चासन पर पहुँच गए हैं। जैसे— आई० जी० पी०, डॉक्टर, प्रोफेसर, इन्जिनियर, वकील, उद्योगपति, व्यापारी, शिक्षक, इन्टरनेशनल कन्सलटेन्ट आदि बन सके हैं। इसका सम्पूर्ण श्रेय आश्रम तथा स्वामीजी को जाता है। उनकी सेवावृत्ति, सहकार भावना एवं स्वावलम्बन संस्कार अपनाकर सभी ने आश्रम संस्कार की ज्योति चारों ओर फैलायी है। आज भी जब भूतपूर्व विद्यार्थी परस्पर मिलते हैं तब आश्रम को याद करते हैं। साथ-साथ कृतार्थ भाव से स्वामी जी को याद करके शत्-शत् वंदन करते हैं।

आश्रम का संचालन लोकतांत्रिक ढंग से होता था। अतः ऊँच-नीच, गरीब-अमीर, काले-गोरे का भेद-भाव कभी नहीं रहता था। सभी सुख-शांति एवं गौरवपूर्ण रह सके। इसके पीछे स्वामी जी की दीर्घ दृष्टि तथा कुशल संचालनशक्ति काम करती थी।

आश्रम में वर्षों से ग्रंथालय की सुविधा है। पहले जहाँ ग्रंथालय था वहाँ आज आश्रम का कार्यालय है। अनेक साहित्यिक रसिक इस ग्रंथालय का लाभ उठाते थे। ग्रंथालय में साहित्यिक एवं धार्मिक पुस्तकें पर्याप्त मात्रा में थी। इसके अतिरिक्त अमुक अखबार और विभिन्न पत्र-पत्रिकाएं आती थीं। अनेक लोग इस ग्रंथालय का लाभ उठाते थे। क्योंकि उस समय राजकोट शहर में बहुत कम ग्रंथालय थे। स्वामीजी ने सोचा था कि राजकोट में रहनेवाले लोगों को पढ़ने की भूख है उसे तृप्त करना चाहिए। अतः राजकोट के प्रवेशद्वार के पास ग्रंथालय का भव्य भवन बनवाया गया। इस ग्रंथालय का उद्घाटन भारत के भूतपूर्व उपराष्ट्रपति स्व० डॉ० राधाकृष्णन के वरद् हस्तों से हुआ था। उस समय त्रिदिवसीय भव्य समारोह का आयोजन किया गया था। उस समय का भव्य मंडप आज भी मेरी आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। उस अवसर पर स्वामी रंगनाथानन्दजी, ब्रह्मलीन स्वामी गभीरानन्दजी जैसे अनेक विद्वान संन्यासी पधारे थे। सौराष्ट्र की प्रजा को उनके व्याख्यान सुनने का लाभ मिला था। आश्रम के इस ग्रथालय को देखते ही स्वामीजी का स्मरण होता है। मैं तो यही कहूँगा कि इस ग्रथालय के साथ स्वामी भूतेशानदजी का नाम सदा अमर रहेगा। ऐसे दूरदर्शी, कर्मयोगी पू० स्वामीजी आजतक मेरे प्रेरणास्रोत रहे हैं और भविष्य में भी रहेंगे।

मेरे आश्रम के अभ्यासकाल में एक बार बड़ा भयानक भूकंप हुआ था। संध्या का समय था। स्वामीजी बिल्व वृक्ष के नीचे बैठे थे। मैं और अन्य कुछ विद्यार्थी उनके समीप ही बठे थे। परस्पर आनंद-मजाक कर रहे थे कि अचानक भूकंप हुआ। धरती डोलने लगी। चारों ओर थरथराहट होने लगी। हम सभी घबरा गए। उस समय स्वामीजी ने सभी को हिम्मत रखने के लिए कहा। सद्भाग्य से सौराष्ट्र में इस भूकंप का कोई असर नहीं पड़ा परन्तु कच्छ में भारी विनाश हुआ। स्वामीजी के नेतृत्व में आश्रम के कर्मठ संन्यासी, भक्तजन और अनेक विद्यार्थी कच्छ पहुँचे। कई गाँव नष्ट हो गए थे। स्वामीजी ने अनेक गाँवों का पुनर्निर्माण करने का संकल्प किया। इसके लिए चंदा एकत्रित होने लगा। उस समय प्रसिद्ध बाँसुरी वादक स्व० पन्नालाल घोष का कार्यक्रम भूज में रखा गया जिससे अधिक चंदा एकत्रित हो सके। इस तरह उनका गाँवों के नवनिर्माण का संकल्प साकार हुआ। आज कच्छ निवासी स्वामी भूतेशानंदजी के इस सेवा यज्ञ को याद करते हैं।

अनेक वर्षों तक गुजरात में मठ-मिशन का एक मात्र केन्द्र राजकोट ही था। आज तो

राजकोट का क्षेत्र कई गुना विस्तृत हो गया है। राजकोट के अतिरिक्त लींबडी और पोरबन्दर जैसे दो अन्य आश्रम स्थापित हुए हैं परन्तु राजकोट में उस समय बिल्व वृक्ष को सीधी पंक्ति में आश्रम की हद पूरी होती थी। नजदीक में ही एक खेत था। स्वामीजी ने कुशलतापूर्वक उसमें से थोड़ी जमीन ले ली और उस पर मंदिर निर्माण करने का सोचा। क्योंकि पुराना मदिर बहुत ही संकरा था और थोड़ा जर्जरित भी हो गया था। स्वामीजी ने बेलुर की प्रतिकृति के समान भव्य रामकृष्ण मंदिर निर्माण करने का संकल्प किया। शुरू में लगभग नव लाख रुपये के खर्च का अदाज था इसलिए महाराज से चंदा एकत्रित करने की कमर कसी परन्तु समय बीतते खर्च का अंदाज तीन-चार गुना बढ़ गया।

सन् १९६९ ई० में स्वामी भूतेशानन्दजी का बेलुड़ मठ स्थानान्तरण हो गया। अतः वे वहाँ चले गए। परन्तु उनका कार्य चालू रहा। बाद में स्वामी व्यामानन्दजी के समय में यह मदिर पूर्ण हुआ और उसकी प्राण प्रतिष्ठा भव्य रूप में की गई। परन्तु इतना स्वीकारणा पड़ेगा कि इस कार्य की नींव में स्वामी भूतेशानन्दजी थे। सर्वधर्म समन्वय की झाँकी करनेवाला राजकोट आश्रम का ठाकुर का यह मंदिर एक तीर्थ स्थान बन गया है। श्री ठाकुर का अस्थिकुंभ भी मंदिर में है उसे स्वामी भूतेशानन्दजी स्वय बेलुड़ मठ से ले आये थे।

गुजरात से विदा लेने से पहले स्वामीजी ने एक भगीरथ कार्य यह किया कि स्वामी विवेकानंद जन्म शताब्दी प्रसंग पर स्वामी विवेकानन्दजी के सम्पूर्ण साहित्य का गुजराती भाषा में प्रकाशन करने का और गुजरात के प्रत्येक गाँव में स्वामी विवेकानन्द के सभी ग्रंथ पहुँच जायँ ऐसा सुन्दर आयोजन किया था। और पुस्तक प्रकाशन से पूर्व ग्राहकों के नाम लिखने की जिम्मेदारी मैंने ले ली थी। अतः मैं अच्छी तरह जानता था कि स्वामी भूतेशानन्दजी ने इस प्रकाशन कार्य के पीछे अनेक घण्टों तक कार्य किया था।

स्वामी भूतेशानन्दजी 'शुभस्य शीघ्रम्' में विश्वास करते थे। अतः अनुवाद करने का विचार आते ही गुजराती अनुवाद का कार्य अलग-अलग विद्वानों को सौंप दिया। अनुवाद हो जाने के बाद वे उसे शब्दशः देख लेते थे। स्वय अंग्रेजी ग्रथ देखते थे और अनुवाद पढ़ने के लिए कहते थे। इस कार्य में कई बार आश्रम के भक्त/सेवक श्री वाय० जी० माटु के साथ स्वामीजी भाषान्तर देखने के लिए बैठते थे। शाम को हम दोनों साथ बैठकर इस कार्य को निबटाते थे। बहुत गहनता से भाषान्तर देखने के बाद शब्दों में, वाक्य रचना में परिवर्तन करने का निर्देश करते थे। कभी-कभी तो पूरा पैरेग्राफ पुनः लिखवाते थे। फिर लेख की हस्तप्रत तैयार करने की जिम्मेदारी मुझ पर छोड़ते थे। सर्वश्री यजस्वी मेहता, रामनारायण पाठक, केशव लाल शास्त्री, जनार्दन वैद्य जैसे कई विद्वान इस कार्य में संलग्न थे। गोपाल राव विद्वान जैसे प्रखर भाषा शास्त्री के द्वारा हस्तप्रति तैयार होने के बाद ही प्रेस में भेजते थे। मुद्रण के लिए भी 'नवजीवन' जैसा श्रेष्ठ मुद्रणालय पसन्द किया था। आज गुजरात की ग्राम पंचायतों के ग्रंथालयों में विवेकानन्द शताब्दी ग्रंथमाला के बारह ग्रंथों का सेट देखते हैं तब सर्वप्रथम स्वामी भूतेशानन्दजी का स्मरण हो जाता है। स्वामी विवेकानन्दजी की विचारधारा को आम जनता एवं ग्राम जनता तक पहुँचाने का कार्य उनका अनन्य प्रदान माना जाता है। साथ यह भी न भूलना चाहिए कि उस समय गुजरात सरकार ने भी आश्रम को अच्छा साथ-सहकार दिया था। विशेष रूप से स्वातंत्र्य सेनानी—ग्राम

पंचायत का खाता संभालनेवाले स्व० श्री रतुभाई अदाप्पी ने भी स्वामीजी को बहुत ही सहकार दिया था।

स्वामी भूतेशानन्दजी की नियमितता उल्लेखनीय ही नहीं परन्तु आचरण करने योग्य है। वे प्रातः विद्यार्थियों के साथ उठ जाते थे। नित्यकार्य के बाद एक घण्टे तक मंदिर में जाकर ध्यान में बैठते थे। उसके बाद नास्ता लेकर आश्रम के बचे-खुचे कार्य-पत्र व्यवहार आदि करते थे। मिटींग, छोटे-बड़े प्रवास, उत्सव की तैयारी, शनि-रवि के प्रवचन आदि कार्यों का आयोजन करते थे। इसके अतिरिक्त दर्शनार्थियों का आना-जाना चालु रहता था। प्रत्येक दर्शनार्थी स्वामीजी की सादगी तथा आडम्बर रहित साहसिक व्यक्तित्व से प्रभावित होता था।

स्वामी भूतेशानन्दजी का व्यक्तित्व पक्षपात रहित था। फिर सौराष्ट्र राज्य के उच्च अधिकारी गंगोपाध्याय आये हों या गुलाब राय मंकोड़ो! कोई धनिक हो, उद्योगपति हो या विद्यार्थी की सामान्य स्थिति वाला हो! परन्तु सभी के साथ उनका समान व्यवहार रहता था। इतने कार्यरत होने पर भी शाम को रेस कोर्स तक चक्कर लगाना कभी नहीं भूलते थ। शाम को बिल्व वृक्ष के पास की बेंच पर बैठते थे तब विद्यार्थी वृन्द एवं भक्तों के साथ ज्ञानगोष्ठी चलती थी। रात को संन्यासियों के साथ बैठकर 'कथामृत' के ग्रंथों में से कुछ अंश पढ़ते थे और उस पर चर्चा चलती थी।

स्वामी भूतेशानन्दजी की स्मृति शक्ति तीव्र थी। उन्हें प्रत्येक के बचपन में प्यार से पुकारे जाने वाले याद थे। वर्षों बाद मिलने पर उसी नाम से पुकारते थे। वे विद्यार्थियों एवं संन्यासियों के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करते थे। 'मथुर' 'दिनेश', 'निशिकांतो' 'विभूति' जैसे लड़के नाम से संन्यासियों को बुलाते थे। वे जब विद्यार्थी पर गुस्से होते थे तब कहत थे—'तू पागल है, कुछ समझता नहीं।' परन्तु उनका गुस्सा अधिक ही रहता था। स्वामीजी के पास एक कलम थी उसके प्रति उनकी परम आसक्ति थी। दूसरी महत्व की बात यह है कि एक कुत्ता अपने अंगों को आकार देखकर महाराज से प्रणाम करता था। अतः मानव सृष्टि और पशुसृष्टि पर उनका निःस्वार्थ प्रेम था। ऐसी अनेक घटनाएं आज मेरे स्मृतिपट पर आ रही हैं।

स्वामी भूतेशानंदजी अंतिम बार जब राजकोट आए तब उनके दर्शन के लिए मैं गया था। उस समय सभी अपना अपना परिचय देते हुए प्रणाम करते थे। मैंने भी प्रणाम करते हुए कहा, 'महाराज, आमि जनक', और उन्होंने तुरत कहा, 'कौन जनक दत्ते ?' समग्र मठ-मिशन के अग्रगण्य, ऐसे महान व्यक्ति एक सामान्य विद्यार्थी को वर्षों बाद भी स्मरण में रखें इसे सचमुच में अपना सौभाग्य मानता हूं।

ऐसे महामानव स्वामी भूतेशानंदजी के पावन चरणों में कोटि कोटि वंदन के साथ मैं अंतःकरण पूर्वक स्मरणांजलि अर्पण करता हूँ।

सत्य असत्य से अनन्तगुणा प्रभावशाली है, और ऐसे ही भलाई भी बुराई से। यदि ये बातें तुममें हों, तो वे अपने प्रभाव से ही अपना रास्ता बना लेंगी। —स्वामी विवेकानन्द

एक लोकोत्तर महाजीवन

—स्वामी सर्वभूतानन्द
रामकृष्ण मिशन इन्स्टीच्युट ऑफ कल्चर
गोलपार्क, कलकत्ता

[श्रीमत् स्वामी सर्वभूतानन्द जी महाराज पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज के निकट सम्पर्क में रहते थे। विशेष आग्रह करने पर उन्होंने यह संस्मरणात्मक लेख इस विशेषांक के लिए लिख भेजा है। आशा है, पाठकगण इस लेख से लाभान्वित होंगे—सं०]

किसी लोकोत्तर महाजीवन का माप दण्ड क्या होना चाहिये, इसे निर्धारित करना साधारण मनुष्य के लिए एक दुष्कर कार्य है। फिर भी एक छोटा बच्चा जैसे अपने दोनों हाथों से माँ को अपनी गोद में भर लेने का प्रयास करता है, यह प्रयास भी कुछ उसी प्रकार का है।

रामकृष्ण मठ मिशन के द्वादश संघाध्यक्ष के सम्बन्ध में कुछ लिखने या कहने का प्रयास करते हुए ये बातें याद आती हैं। एक कविता की कड़ी वे प्रायः दुहराया करते थे 'ओरे कुशी लव, करिस की गौरव। धरा ना दिले की पारिस धरिते ?' 'अर्थात् अरे लवकुश, अहंकार क्या करते हो ? मैं स्वयं तुम्हारी पकड़ में नहीं आना चाहता तो क्या तुम मुझे पकड़ सकते थे !'—यह हनुमान का वचन है। वे हमलोगों के साथ हमलोगों के समान ही व्यवहार किया करते थे। उन्होंने अपनी आध्यात्मिकता से अपने समस्त वैशिष्ट्यों को इस प्रकार ढँक रखा था कि वे एक सामान्य भोले-भाले बालक या शिशु के समान लगते थे। परन्तु उनके भीतर जो महान व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य परिलक्षित होते हैं उन्हीं को यहाँ प्रस्तुत करने की एक अक्षम्य चेष्टा करूँगा।

परम पूजनीय महाराज ने विभिन्न समयों में साधु-ब्रह्मचारियों एवं भक्तों के समक्ष अपने बाल्य-जीवन सम्बन्धी जो बातें बतायी हैं उनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे अन्तर्मुख, ईश्वर निर्भर, वैराग्यवान् एवं ध्यान परायण थे। बचपन से ही उन्होंने यह स्थिर संकल्प किया था कि प्रचलित सांसारिक भोग-सुखों का पथ त्याग कर वे वैराग्य एवं संन्यास का जीवन ही ग्रहण करेंगे। इसलिये अपने जन्मस्थान बाँकुड़ा की दामोदर नदी के तटवर्त्ती सोमसार ग्राम की श्मशान भूमि पर अपनी छात्रावस्था में ही तन्मय हो ईश्वर चिन्तन में डूब जाते, अथवा गाँव छोड़ अकेले में अनमना हो चलते रहते, क्योंकि उन्होंने माँ से सुना था कि साधु संन्यासी पहाड़ पर्वतों में भगवान के चिन्तन में मग्न रहते हैं और तीर्थों में घूमकर तपस्या करते हैं। अकस्मात् परिचित गाड़ीवान की नजरों में पड़ जाने से सविलील उत्तर देश भ्रमण में निकले हैं।' अन्त में वही गाड़ीवान घर पहुँचा देता है।

ईश्वरनिर्भरता बचपन से ही उनके संस्कार में थी। भक्तों से शैशव की स्मृति का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—बाल्यावस्था में तैरना नहीं जानते

थे। ऐसे समय एक दिन एक तालाब में कूद पड़ते हैं ताल उठा लाने के लिये. जल में डूबकर मृत्यु अवधारित। उस निश्चित मृत्यु के समय में भी परम निश्चित भाव से ईश्वर का स्मरण कर प्रार्थना करते हैं—'गुरुदेव रक्षा करो।' एकाएक एक जल में डूबा पेड़ की डाली हाथ में लग जाने से उसे पकड़ कर निकल आये।

ऐकान्तिक श्रद्धा व निष्ठा भी उनमें सहजात थी। नौ साल की उम्र में उनका उपनयन हुआ। उपनयन के बाद से वे दामोदर के बटतला घाट से नहाकर अंगोछे में मुँह ढाँक कर घर लौटा करते। गृह देवता सदाशिव के सामने बैठकर गायत्री जप से पहले माँ को छोड़ अन्य किसी का मुँह न देखना पड़े, इसलिये। माँ के साथ फूल बिल्वपत्र आदि से नित्य सदाशिव की पूजा के साथ-साथ शिवरात्रि, गाजन, तिलव्रत से गाँव के सोमेश्वर शिव जो अधिष्ठात्रि देवता हैं उनकी अर्चना किया करते। परवर्तीकाल में जब वे कलकत्ता के बागबाजार में ब्र० ज्ञान महाराज के आश्रम में रहते, उस समय भी उनकी यह पूजा-निष्ठा समान रूप से विद्यमान थीं। बाद में कहा करते 'शिव ने इन दोनों हाथों से अनेक सेवा ग्रहण की है।' इसके साथ-साथ नियमित जपध्यानादि तो था ही। सारी रात लिखाई-पढ़ाई और जप-ध्यान में ही बिताते। इसके और परवर्ती काल में उनके मठ जीवन में भी तपस्या के प्रति उनमें दुर्निवार आकर्षण था। ब्रह्मचारी अवस्था में सभी देखते कि वे मच्छरदानी के अन्दर सो रहे हैं; परन्तु मध्यरात्रि में सबसे छिपकर वे उससे निकल-कर माँ के मन्दिर के बारामदे में बठकर जप-ध्यान करते और शेष रात्रि में चुपचाप मच्छर-दानी के अन्दर जाकर सो जाते। इसके अलावा तीव्र तपस्या की प्रेरणा से वे पू० शिवानन्द जी महाराज और अखंडानन्द जी महाराज से अनुमति लेकर पहले काशीधाम, फिर दो बार उत्तर काशी में उन्होंने कठोर तपस्या का जीवन यापन किया। वे जैसे अपने जीवन में तपस्या का भाव मन में जागरित रखते ठीक उसी प्रकार दूसरों को भी तपस्या के लिये उद्बुद्ध करते।

छात्रावस्था में बाग-बाजार में रहते समय श्री श्री माँ सारदा की जन्म-तिथि में ब्र० ज्ञान महाराज के साथ जाकर श्रीमाँ के दर्शन का भी एक बार अवसर प्राप्त हुआ था। उनके तिरोधान के बाद जब उनका भागवति तनु, आँगन में रखा गया तब उनका द्वितीयबार दर्शन हुआ। इसके अलावा भगवान श्रीरामकृष्णदेव के दस लीला पार्षदों एवं दो-चार गृही पार्षदों का भी सत्संग उन्हें प्राप्त हुआ।

१९२३ ई० से उनका आनुष्ठानिक मठ जीवन प्रारम्भ होता है। इसके पहले ही ब्र० ज्ञान महाराज की निरन्तर प्रेरणा एवं साहचर्य से उनका अध्यात्मजीवन तैयार हुआ था। साथ ही पूज्यपाद गुरु श्रीमत् स्वामी सारदानन्द जी महाराज का सस्नेह अभिभावकत्व भी मिला था। छात्रावस्था में तीव्र वैराग्य की प्रेरणा से वे जितनी बार आनुष्ठानिक रूप से योगदान करने के लिये मठ गये उतनी बार ही पू० स्वामी शिवानन्द जी महाराज एवं पू० स्वामी शुद्धानन्द जी महाराज उन्हें वापस लौटा देते कि तुम्हें और पढ़ना पड़ेगा। अन्त में दर्शनशास्त्र में बी० ए० परीक्षा का अन्तिम प्रश्न पत्र देकर सीधे वहीं से बेलुड़मठ चले आये। इसके बाद और फिर लौटना नहीं पड़ा।

प्रबल शास्त्रानुराग पू० महाराज के जीवन का एक और आकर्षण है। शास्त्र अध्ययन, शास्त्र व्याख्यान व शास्त्रानुशीलन में उनका अपरीसीम उत्साह शेष दिन पर्यन्त देखने में आता है। मठ-जीवन के प्रथम वर्ष में प्रायः १२ साल तक पू०

स्वामी शुद्धानन्द जी महाराज के पास शास्त्र अध्ययन करते रहे। उसके बाद विभिन्न व्यक्तियों के पास भी शास्त्र अध्ययन किया था। इनमें एक हैं तारासार पंडित जो। विशेष तौर पर मैसूर व मद्रास में रहते समय उन्होंने अनलस भाव से शास्त्र-अध्ययन किया। वे खुद पढ़ते व साधुओं को भी पढ़ाते थे। परवर्ती काल में संघ के परिचालन का दायित्व भार ग्रहण करने के बावजूद नियमित शास्त्रचर्चा के अभ्यास को उन्होंने छोड़ा नहीं। मठ के सभी साधु ब्रह्मचारियों को भी निरन्तर शास्त्रानुशीलन की प्रेरणा देते। शास्त्र के जटिल तत्व व गूढ़ार्थ को साधारण लोगों के बीच बोधगम्य सहज सरलभाव से व्याख्या करने को एक अवर्णनीय क्षमता उनमें विद्यमान थी। ठाक उसी तरह अनेक भाषाओं में व्युतपत्ति उनके असाधारण पाण्डित्य और धीशक्ति का परिचायक है। राजकोट में रहते समय उनकी असीम क्षमता से गुजरती भाषा में दक्षता प्राप्त कर, उनकी प्रचेष्टा से गुजराती भाषा में स्वामी जी की रचना-समग्र अनूदित हुई। इसका संपादन कार्य भी उन्होंने स्वयं किया।

अक्सर वे अपने शास्त्रानुराग सम्बन्धी एक घटना की चर्चा किया करते थे। एकबार उनकी इच्छा हुई कि वे काशी जाकर प्रबल शास्त्राध्ययन करें। महाध्यक्ष पू० महापुरुष महाराज के बाहर रहने के कारण अपने गुरुदेव पू० सारदानन्द जी से यह इच्छा उन्होंने व्यक्त की। किन्तु सारदानन्दजी महाराज ने पू० महापुरुष महाराज से ही अनुमति प्राप्त करने को कहा। जब उन्होंने पू० महापुरुष महाराज को पत्र लिखकर अनुमति माँगी तो पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा—"देखो, व्याकरण चच्चड़ी बनने की इच्छा हमलोगों का उद्देश्य नहीं है, तुम यदि वेदान्त पढ़ना चाहते हो तो मठ में ही हमारे अच्छे पंडित हैं, उनके पास अध्ययन कर सकते हो, काशी जाने की आवश्यकता नहीं है।" इसका उल्लेख करते हुए महाराज कहा करते—'महापुरुष महाराज ने मुझे एक दारुण संकट से बचा लिया। उस समय अच्छी तरह समझ नहीं पाया, अब समझता हूँ—एक कहावत है शास्त्र-व्यसन—वह अन्यान्य आकर्षणों से कम नहीं। मनुष्य को शास्त्रअध्ययन जैसे आगे बढ़ाता है ठीक उसी प्रकार शास्त्र-व्यसन उसे पीछे खींचता है। आध्यात्मिक जीवन की बाधा बनता है।' वे समझ गये थे कि ठाकुर की सन्तानें ही ठीक-ठीक साक्षात् शास्त्रमूर्ति हैं। वे लोग जिस शास्त्र चर्चा के लिए उत्साहित किया करते थे वह साधारण ज्ञानलाभ की वासनापूर्ति के लिये नहीं। विद्याचर्चा के माध्यम से आत्मानुभूति ही था उनका लक्ष्य। और उसी भाव को ग्रहण कर महाराज न उसे अपने जीवन में रूपायित कर उसे दिखा दिया है।

वास्तव में स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज का जीवनज्ञान, कर्म एवं भक्ति का एक सुन्दर समन्वय था। शास्त्रादि अनुशीलन करना, ध्यान-तपस्यादि के माध्यम से अर्जित प्रखर मेधाशक्ति से उनका मर्मार्थ ग्रहण करना एवं अधीत तत्व को कर्म में रूपायित करना उनका स्वभाव था। वे 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' का एक आदर्श अननुकरणीय दृष्टान्त स्थापित कर गये। सुदक्ष-कर्मी, तथा सुदक्ष प्रशासक के रूप में रामकृष्ण संघ के इतिहास में वे किंवदन्ती हो गये थे। ढाका केन्द्र में श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द भाव प्रचार में उनकी अग्रणी भूमिका थी। इसके लिए उन्हें अनेक कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था। अकल्पनीय परिश्रम तथा कष्ट स्वीकार कर शिलांग, चेरापुंजी आश्रम दोनों का निर्माण उन्होंने किया था। उनकी अध्यक्षता में ही (१९३८) श्रीरामकृष्ण की जन्मशताब्दी के अवसर पर मंदिर की प्रतिष्ठा हुई थीं। डीमापुर ब्रह्मदेश शरणार्थी

शिविर का परिचालन उनका उस समय का एक उल्लेखनीय कार्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से राजकोट आश्रम का निर्माण एवं उसे सौराष्ट्र में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-प्रचार के अन्यतम केन्द्र में परिणत करना उनका स्मरणीय कार्य है। उनके नेतृत्व में मिशन के राहत कार्य में भी एक उल्लेखनीय व्यापकता आई थी। बांगलादेश मुक्ति-युद्ध के समय जो बहुसंख्यक शरणार्थी भारत आये, उनके लिए विशाल राहत कार्य का परिचालन उन्होंने ही किया।

अद्वितीय उनकी प्रशासनिक दक्षता थी। वहाँ पर उन्होंने शासन और स्निग्धता को इस आश्चर्य जनक रसायन से मिश्रित किया था कि उनके गुरुदेव पू० स्वामी सारदानन्द जी की बात ही बार-बार स्मरण हो आती है। पू० स्वामी गंभीरानन्द जी कहा करते "यदि किसी को डाँटना फटकारना हो तो मेरे पास भेजना, और यदि समझा-बुझाकर प्यार से कहना हो तो उसे भूतेशानन्दजी स्वामी के निकट भेजना।"

१९७५ ई० में वे रामकृष्ण संघ के अन्यतम महाध्यक्ष निर्वाचित होते हैं एवं १९८९ में संघ के द्वादश संघगुरु के रूप में दायित्व ग्रहण करते हैं। १९९८ तक इस सुदीर्घ २३ साल तक उन्होंने ठाकुर-माँ-स्वामीजी के भावादर्श को पृथ्वी के अगणित मनुष्यों तक पहुँचाया तथा उनकी आध्यात्मिक पिपासा का निवारण किया। सिर्फ संघ के सदस्य या गृही भक्त ही नहीं, देश के अनेक प्रशासक एवं राजनेतागण भी उनके निकट समस्या लेकर आते तथा उनका निर्देश ग्रहण कर तृप्त होते। संघ के सभी नवागत ब्रह्मचारी से लेकर प्रवीण संन्यासी एवं साधारण भक्त, अनुरागीगण उनके अन्दर देखते थे—एक पितृवत् व्यक्तित्व जिनके ऊपर निश्चिन्त भाव से वे निर्भर रह सकते थे, दूसरी तरफ एक मातृ प्रतिमा स्नेहाधार भी उनमें देखते थे—सर्वग्राह्य जिनकी ममता करुणा और प्रेम एकाधार में समाहित हो गये थे।

उनके चरित्र का अन्यतम वैशिष्ट्य ही था अपार्थिव प्रेम तथा हार्दिक सहानुभूति। जो भी इनके सान्निध्य में आये उन्होंने इस सर्वग्राही प्रेम के अमोघ आकर्षण का अनुभव किया। वे उनके प्रेम के दृढ़ बंधन में बँध गये। उनकी निरभिमानिता, प्रचारविमुखता, अविश्वसनीय सहन शक्ति, शुद्ध नियमानुवर्तिता व निर्विकार उद्वेगहीनता, उन्होंने अपने गुरु पू० स्वामी सारदानन्द जी से उत्तराधिकार रूप में प्राप्त की थी। स्वामी विवेकानन्द पू० शरत महाराज के सम्बन्ध में कहते हैं, 'बेले माछेर रक्त सहजे ताते ना।' अर्थात् 'छोटी मछली जो बालू में रहना पसन्द करती है उसका रक्त सहज ही उत्तेजित नहीं करता।' ठीक उसी प्रकार पू० महाराज जी के सुदीर्घ-जीवन में उन्हें नाराज होते नहीं देखा गया। हमेशा धीर-स्थिर-शांत और अविचल। उत्तेजित होना उनके स्वभाव के विरुद्ध था।

इस प्रकार की सहनशक्ति और धैर्य उन्होंने अपने गुरुदेव से ही अर्जित किया था। वे कहते, एकबार छात्रावस्था में ज्ञान महाराज के आश्रम में महावीर की पूजा के उपलक्ष्य में पू० स्वामी सारदानन्द जी महाराज को उन्होंने निमन्त्रित किया। वे भी अत्यन्त उत्साह पूर्वक आये। परन्तु स्थूल एवं वातयुक्त शरीर होने के कारण उस सँकरी सीढ़ी से चढ़ने में उन्हें अत्यन्त कष्ट हो रहा था। प्राय: घुटने के बल पर ऊपर चढ़ना पड़ा। परन्तु इतने पर भी क्षोभ नहीं। उस दिन गुरुदेव की इस कष्ट सहिष्णुता ने एक चरम शिक्षा प्रदान की। आजीवन वे अपने कष्ट के लिये दूसरों की आन्तरिक व्याकुलता की उपेक्षा नहीं कर सके एवं जीवन के अन्तिम दिनों तक इस स्वभाव में

विच्युति नहीं आई। उनके दरवाजे कोई भग्न-मनोरथ नहीं हुआ। वे यदि केन्द्र में उपस्थित रहते तो रोज सबेरे शाम साधु व भक्तों से मिलने पर विभिन्न प्रकार से सत्प्रसंग किया करते। उसमें कोई अधिकारी भेद नहीं था। सभी का समान अधिकार था—उनके पास जाने का एवं किसी भी प्रकार के प्रश्न करने का। अन्तिम दिनों में उनकी शारीरिक अस्वस्थता के कारण डॉक्टरों के निर्देश पर इस पर यदि रोक लगती तो वे इसका घारतर विरोध करते, कहते, 'यह शरीर संघ के कार्य के लिए निवेदित है, भोग-सुख के लिये नहीं।'

अनेक समय अनेक भक्त आकर नितान्त मामूली प्रश्न किया करते, या एकदम ही सांसारिक प्रश्नों का समाधान सूत्र जानना चाहते। किसी-किसी के द्वारा इस पर आपत्ति जताने से वे अपने जीवन की एक घटना का उल्लेख किया करते। वे अपने छात्रजीवन में पू० श्रीमत् स्वामी सारदानन्द जी महाराज के पास जाते तो देखते उनके पास अनेक सांसारिक लोग आते और इस पर प्रश्न किया करते, परन्तु महाराज जी कभी क्षुब्ध न हो, उन्हें बहुत ममतापूर्वक सुनते और समाधान सूत्र दिया करते। और दूसरी तरफ ये बालक छात्र सोचते कहाँ अभी भगवत्-प्रसंग होना चाहिये, और सो न होकर कहाँ, सिर्फ फालतू बातें। इस घटना का उल्लेख कर पूज्य महाराज जी कहते, 'आज समझ में आ रहा है कि वे क्यों बोलते और ये क्यों सुनते।' वे यहाँ आकर नहीं कहेंगे तो जायेंगे कहाँ? परन्तु उसके साथ-साथ उसी रंग रसिकता के बीच इस बात का ध्यान भी करा देते कि साधु संग और गुरु संग के बीच, लौकी कुम्हड़े की आलोचना नहीं करनी चाहिये। परम लक्ष्य का पथनिर्देश लेना चाहिए।

उनका असाधारण रसबोध था। वे हमेशा आनन्द में रहते और दूसरों को भी आनन्द में रखने का प्रयास करते। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, 'We are children of bliss—Why should we look morose & somber. महाराज जी के जीवन में इसका परिपूर्ण प्रकाश मिलता है। हर समय सभी प्रसंगों के साथ उपयुक्त रसिकता जैसे उनके मुँह में लगी ही रहती। वे कहा करते, "मैं इसी तरह आनन्द में रहता और सभी को लेकर आनन्द करना पसन्द करता हूँ।" कभी-कभी जब भक्त दूर-दूर से आते और महाराज को चुप देखते, तो महाराज मजाक कर कहते, 'ये तो काला भूत, और अद्भुत भुँडि पेट, इसमें फिर देखने का क्या है।"

उन्होंने गुरु रूप में अनगिनत मुमुक्षु मनुष्यों के आध्यात्मिक जीवन का दायित्व भार ग्रहण किया था, उनको श्री श्री ठाकुर माँ के पादपद्मों में निवेदित किया था। साथ-ही-साथ श्रीरामकृष्ण संघ के विशेष महत्व को भक्तों के हृदय में दृढ़भूल कर वे कहा करते थे—'श्रीरामकृष्ण के पार्षद सभी एकाधार से श्रीरामकृष्ण को ही गुरु एवं इष्ट कहते हैं। उनके अनुसार श्रीरामकृष्ण सब के 'गुरु' सभी कोई अपने को गुरु रूप से नहीं मानते। वे अपने को श्रीरामकृष्ण की साधन धारा के धारक एवं वाहक मात्र मानते है।" और भक्तों से कहते हैं, "हमलोग प्रतिमा में ईश्वरत्व का आरोप करते हैं, पूजा करते हैं, और फिर विसर्जन कर देते हैं क्योंकि प्रतिमा ईश्वर नहीं है। मेरे इस शरीर ने जब जन्म लिया है तो मृत्यु अवधारित है···तुमलोग यदि इस देह को गुरु समझो तो 'गुरुवाद' 'देहवाद' में परिनत हो जायेगा। ···सभी के गुरु तो एक ही हैं, वे हैं ईश्वर। वे ही गुरु के माध्यम से प्रकाशित हुए हैं। गुरु के शरीर का नाश होने पर भी वे सूक्ष्म शरीर में शिष्य के अन्तर में चिरकाल विद्यमान हैं। वे नित्य गुरु हैं।

इस प्रकार यदि चिन्तन कर सको तो चिरकाल तक तुम अपने गुरु को पा सकते हो, वे कभी खो नहीं सकते।"

प्रारम्भ में ही कह चुका हूँ कि महाजीवन का नाश नहीं है। उसका एक ऐसा ही आकर्षण है, जो 'स्वादु-स्वादु पदे-पदे।' महिम्न स्तोत्र महाराज को अत्यन्त प्रिय था ··· प्रायः इसे अनेक सन्दर्भों में उल्लेख किया करते "असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिंधु पात्रे, सुरु तरुवर शाखा लेखनी पत्रमुर्वी। लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं, तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥"

—उनकी तुलना वे खुद ही हैं। हम उनका कोई पार नहीं पाते हैं, उस विराट् के अनुध्यान के माध्यम से ही अपने क्षुद्र पात्र को पूर्ण कर सकते हैं। इससे हमारा ही परम कल्याण है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अलौकिक-आकर्षण

—ज्योत्स्ना चौधरी

एकबार कलकत्ते में खूब बाढ़ आयी थी। पानी से रास्ता-घाट सभी डूब गये। वैसे ही थोड़ी वर्षा होने पर योगोद्यान प्रांगण में घुटने भर पानी जम जाता। नाटमन्दिर में भी पानी चढ़ जाता। उस बार बाढ़ का पानी कई दिनों तक था। अचानक मेरी इच्छा हुई बाबा (महाराज) कैसे हैं देख आऊँ। बहुत दिनों से जा नहीं सकी थी। घर से निकलकर बस से मानिकतला तक गयी। उसके बाद घुटने भर पानी में शंभु के साथ पैदल चलकर काँकुड़गाछी मोड़ होकर रामकृष्ण मिष्टान्न भंडार तक गयी। कहीं भी जमीन दिखाई नहीं दी। सर्वत्र पानी-ही-पानी। रामकृष्ण मिष्टान्न भंडार के सामने खड़ी होकर योगोद्यान जाने के रास्ते को देखकर डर गयी। कमर भर पानी। क्या करूँगी, सोच रही थी। इतनी दूर आकर लौट जाऊँगी? कुछ देर तक खड़ी होकर गुरु का स्मरण करके रास्ते पर उतर गयी। साथ में शंभु। इलेक्ट्रिक तार, साँप का कोई डर नहीं, कैसे तीर्थस्थान में प्रवेश कर देवता के दर्शन करूँगी, यही केवल चिन्तन कर रही थी। गेट के सामने खड़ी होकर बहुत देर तक बुलाने के बाद गेट खुला। कुछ साधु ऑफिस के कमरे में बैठे थे। पानी में भींगी हुई मेरी अवस्था देखकर वे एकटक से मेरी ओर देखने लगे। उस समय मेरी उधर कोई दृष्टि नहीं। कैसे देवता के दर्शन करके घर लौटूँगी, यही चिन्तन। बाबा (महाराज) के कमरे के बरामदे तक पानी। बाबा दो मंजिले पर हैं। सुमति भाई ने मुझे देखकर बाबा को

जाकर बताया। बाबा तुरन्त बोल उठे—'उसको मेरे पास ले आओ।' किसी तरह कपड़ा से पानी निचोड़कर दो मंजिले पर चढ़कर मैंने देखा बाबा दोनों हाथ बढ़ाकर मुझे बुला रहे हैं। मैं बाबा के चरणों पर गिरकर आनन्द से रोने लगी तथा बाबा से कहने लगी बाबा आज मुझे मत डाँटिएगा। आप किस अवस्था में हैं, यह देखने के लिए मेरा मन छटपट कर रहा था।' बाबा मेरा मस्तक अपनी छाती से लगाकर मस्तक पर हाथ फेरने लगे। मैं बार-बार कहने लगी 'आपके कपड़े भींग रहे हैं।' किन्तु बाबा मेरी बात सुनते ही नहीं हैं। केवल कह रहे हैं, 'नहीं माँ, तूझे नहीं डाँटूँगा। गुरु के प्रति तुम्हारे आकर्षण को देखकर आनन्द हो रहा है।' मुझे मालूम हुआ कि मठ में तरकारी का अभाव है। ठाकुर का भोग नहीं हो रहा है, केवल थोड़ी खीर भोग दिया जा रहा है। सुनकर मन खराब हो गया। बाबा ने कहा 'संध्या से पहले चली जाना।' बाबा का आशीर्वाद पाकर फिर मुझे कोई कष्ट नहीं रहा। केवल एक ही चिन्ता—कैसे ठाकुर के भोग के लिए कुछ भेजूँ। फिर कमर भर पानी में चलकर लौट रही हूँ। अचानक मैंने देखा रामकृष्ण मिष्टान्न भंडार से थोड़ी दूर एक स्थान पर एक व्यक्ति कई तरह की तरकारी लेकर बैठा है। देखकर आनन्द से शंभु से बोल उठी, 'वह जो तरकारी लेकर बैठा है! तुम क्या पुनः योगोद्यान मठ जाकर दे आ सकोगे?' मेरे पास रुपये थे। शंभु तरकारी लेकर पुनः योगोद्यान गया। मैं छाती भर पानी से होकर पास के तारक भाई के दो मंजिले मकान पर चढ़कर प्रतीक्षा करने लगी। तारक भाई के एक मंजिले में पानी भरा हुआ था। दो घण्टे के बाद शंभु आया। मैंने सबसे पहले पूछा, दे आये हो?' शंभु ने कहा—'सभी प्रकार की तरकारियाँ दी हैं। पूजनीय पीयूष महाराज ने तरकारी देखकर पूछा, 'इतनी तरकारी कहाँ पायी?' शंभु ने कहा था—देवता ने ही सारी व्यवस्था करके भिजवायी है। सचमुच में, पानी से थोड़ी जगह निकालकर तरकारी वाले को वहाँ बैठने की व्यवस्था गुरुदेव ने ही की थी। पूजनीय गुरुदेव की अलौकिक शक्ति को देखकर मैं यह समझ नहीं पा रही हूँ, वे कौन हैं?

(सारदा कल्याण—विशेष संख्या १९९९ से साभार संकलित एवं अनूदित। अनुवादक—स्वामी नित्यज्ञानानन्द।)

कर्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान—इनमें से एक, एक से अधिक, या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ।

बस यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठानपद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रियाकलाप तो उसके गौण अंग-प्रत्यंग मात्र हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

कुछ अविस्मरणीय संस्मरण

—श्रीमती मिन्टू बहन दासाणी

अनुवाद—डॉ. भूलिका त्रिवेदी

महाराज, आपकी पावन स्मृति सर्वप्रथम मुझे ले जाती है मेरे बचपन की ओर ! मैं लगभग सात-आठ साल की थी तब एक दिन संध्या समय मेरे घर के सामने एक टांगा आकर खड़ा हो गया। उसमें से एक भगवावस्त्रधारी महात्मा जी को उतरते देखकर मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मेरी ऐसी मान्यता थी कि साधु-महात्मा तो जंगल में निवास करते हैं या नदी किनारे आश्रम बनाकर रहते हैं। अतः मैं दौड़कर माँ के पास गई और कहा, माँ !···देखो तो हमारे घर एक महात्मा जी आए हैं ! यह सुनकर माँ तुरन्त ही दरवाजे की ओर गई और महाराज के चरणों मे झुककर प्रणाम करते हुए बोली,—पधारिए महाराज ! फिर मैंने प्रणाम करते हुए आसन ग्रहण करने के लिए कहा। महाराज बैठे ही थे कि मैने प्रश्न किया,—महाराज आप कहाँ से पधार रहे हैं ?

महाराज ने प्रेमपूर्ण रूप से सस्मित कहा, मैं राज कोट से आया हूँ और बंगाली डॉक्टर से मिलना चाहता हूँ।

मैंने कहा, अच्छा, यही तो है बंगाली डॉक्टर का घर ! मेरी माँ ने कहा, आपके आगमन से हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। सचमुच, आपके पावन चरण से हमारा घर पवित्र हो गया। फिर माँ ने भक्ति भाव से पूछा, बाबा, अब आप जलपान लेंगे न !

महाराज ने मधुरवाणी में कहा, क्यों नहीं ? अवश्य लूँगा परन्तु पहले हाथ-मुँह धोना चाहता हूँ। मैंने तुरन्त ही पानी, साबुन, तौलिया, अंगोछा आदि की व्यवस्था की और फिर महाराज को बाथरूम तक ले गई।

महाराज हाथ-मुँह धोकर आए और अपने आसन पर विराजमान हो गए। मैं तुरन्त ही चाय-पानी और नाश्ता ले आयी। उनमें से उन्होंने मात्र थोड़ी सी मिठाई और पानी ग्रहण किया। उसके बाद परिचय विधि का आरम्भ हुआ। उन्होंने पूछा, आप कितने भाई-बहन हैं ? मैंने कहा हम सात भाई-बहन हैं। मेरे बड़े भाई-बहन अहमदाबाद में पढ़ते और हम पाँच भाई-बहन यहाँ रहते हैं। फिर महाराज ने प्यार से पूछा, बेटी तम्हारा नाम क्या है ? मैंने कहा, मेरा नाम 'मीन्टू' है।

महाराज ने कहा शून्य ?—गुजराती का मींडु !

मैंने कहा, बिलकुल नहीं।

इस प्रकार महाराज विनोदी स्वभाव के थे। हमारी बातचीत का दौर चल रहा था उसी समय मेरे पिताजी आ गए। आते ही उन्होंने महाराज के चरण स्पर्श करके प्रणाम किया। मेरे पिताजी महाराज से सुपरिचित थे। पिताजी ने उनके निवास की सुविधा हमारे घर पर ही कर दी। अतः हम सभी बहुत खुश हो गए। रात को भोजन के बाद सभी अपने-अपने स्थान पर सोने के लिए चले गए।

दूसरे दिन सुबह सात बजे मैं उठी, तो देखती ही रह गई ! महाराज तो प्रातः जल्दी से उठ गए

थे। दैनिक क्रिया समाप्त कर एक ग्रंथ पढ़ रहे थे। यह देखकर मुझे ताज्जुब हुआ और मैंने माँ से धीरे से पूछा—माँ, महाराज कब उठे ?

पाँच बजे !

क्या वे अपने आप उठ गए ?

हट् पगली ! क्या तुम्हारी तरह बार-बार जगाने की जरूरत पड़ती है ? माँ ने मुझे निरुत्तर कर दिया। समय होने पर मैं पाठशाला चली गई और शाम को घर आई तब भी महाराज तो ग्रंथ ही पढ़ रहे थे। मुझे लगा कि बाप रे मैं तो कभी इतना नहीं पढ़ सकती ! फिर मैंने सोचा कि प्रयत्न तो करना चाहिए। और मैं पूछ बैठी महाराज ! आप क्या पढ़ रहे हैं ? मुझे भी पढ़ने के लिए यह ग्रन्थ दीजिए। उन्होंने कहा—बेटी, तू इस उम्र में इसे नहीं समझ सकेगी। बड़ी हो जाने पर पढ़ना। उस समय पर मुझे लगा कि महाराज मुझे क्यों मना कर रहे हैं ? शायद ग्रन्थ बहुत बड़ा है इसलिए ? परन्तु मैं चुप ही रही। उस समय महाराज तीन दिन पोरबन्दर में ठहरे थे। बाद में मुझे पता चला कि वे राजकोट—आश्रम के लिए चंदा एकत्रित करने के लिए आए थे।

लगभग एक वर्ष के बाद आश्रम हेतु स्वामी ईशानन्द जो महाराज चन्दा माँगने पोरबन्दर आए थे और उस समय मुझे उनके साथ जाने का मौका मिला। सद्भाग्य से उस समय लोगों का अच्छा साथ-सहकार मिला और अनुमान से अधिक रकम मिली। चार-छः महीने के बाद स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज पोरबन्दर आए तब उन्होंने मुझे अभिनन्दन दिया परन्तु मैंने कहा कि महाराज, यह तो ठाकुर का काम था।

जब जब महाराज पोरबन्दर आते थे तब तब मैं उनके साथ पुराने पोरबन्दर में घूमने के लिए जाती थी। कुछ समय पहले मैं बेलुड़ मठ गई थी उस समय उन्हें स्मरण हो आया कि तुम पोरबन्दर में मेरे साथ घूमने आती थी। प्रकृति दर्शन से हमें कितनी खुशी होती थी ! इस समय जो भोजेश्वर प्लॉट और बाड़ो प्लॉट हैं उसका उस समय बिलकुल विकास नहीं हुआ था। वस्तुतः उस समय वह पूरा जंगल था। रास्ते में विभिन्न प्रकार के जीव-जन्तु देखने को मिलते थे। कभी खरगोश तो कभी चौकड़ी मारते हुए हिरन दिखायी देते थे। कभी साँप तो कभी नेवले के दर्शन हो जाते थे। वृक्ष पर बैठी चिड़ियाँ चहकती थीं तो कोयल मधुर गीत गाती थीं। मयूर कलोल करते हुए नाच रहे थे और रंग-बिरंगी तितलियाँ मुक्त रूप से इधर-उधर उड़ रही थीं। ठंढी हवा बह रही थी और वृक्षों की शाखाएँ झुक-झुक कर मानों सानन्द हमारा स्वागत कर रही थीं। प्रकृति सौंदर्य को देखकर हम बहुत खुश हुए थे। और महाराज ने कहा था—वाह कुदरत ! अजब-गजब की है तेरी लीला !

ऐसे जंगल में घूमते-घूमते एक दिन मैं घर का रास्ता भूल गई। थोड़ी घबराहट होने लगी। मैं सोचने लगी कि देर हो जाने से माँ चिंता करेंगी। परन्तु महाराज ने कहा—बेटी, कोई बात नहीं, मैं तुम्हें घर पर पहुँचा दूंगा। और वे मुझे घर तक छोड़ने के लिए आए। विलम्ब हो जाने के कारण माँ चिन्तित हो गई थी परन्तु महाराज के साथ सकुशल आते देखकर ही वह निश्चित हो गई।

महाराज भूतेशानन्द जी स्वभाव से सरल थे। छोटे के साथ छोटे और बड़े के साथ बड़े बनकर रहते थे। वे हमें श्री ठाकुर, माँ और स्वामी जी की कहानियाँ सुनाते थे। कभी-कभी संन्यासी जीवन की कठिन साधना के बारे में कहते थे। उनकी सत्य और निर्भयता की बातें सभी के लिए प्रेरक बन सकती हैं। मैं इतना निश्चित रूप से कह सकती हूँ कि उनका ठाकुर पर बहुत प्रेम था और वही प्रेम वे सभी को बाँटते थे।

कभी-कभी महाराज हमारे साथ खेलते भी थे। एक बार उँगली पकड़ने का खेल सिखा रहे थे। जो उँगली पकड़ लेता है उसकी जीत होती है परन्तु उँगली पकड़ना बहुत कठिन था। और पराजय के कारण हमको निराश देखकर कहते थे कि चलो पकड़ लो उंगली! अब जीत गई। उनके कोमल हृदय में से निर्दोष प्रेम की घटना निरन्तर घटती थी।

मुझे यह भी याद है कि वे मेरी माँ का बहुत ध्यान रखते थे। कभी कार्यवश माँ रात का भोजन देर तक नहीं कर सकती थी तब वे माँ से भोजन करने के लिए अनुरोध करते थे और महाराज के कहने से माँ भोजन करने के लिए बैठ जाती थी। और माँ के भोजन कर लेने के बाद ही वे विश्राम करने के लिए जाते थे। इस प्रकार वे मातृशक्ति के पूजक थे। नारी की गरिमा का आदर करते थे।

वक्त की रफ्तार के साथ मैं भी बड़ी हो गई। मैट्रिक की परीक्षा पास कर लेने के बाद कॉलेज शिक्षा के लिए राजकोट जाना पड़ा। उस समय पहली बार ही रामकृष्ण आश्रम में गई। उस समय रामकृष्ण आश्रम एकदम छोटा था। मैं प्रति रविवार आश्रम में जाती थी और कभी-कभी छात्रावास में घर की याद आ जाती थी तब भी मैं आश्रम चली जाती थी। उस समय महाराज मुझे धैर्यपूर्वक समझाते थे कि अध्ययन करना तुम्हारा मुख्य कार्य है बाकी सब कुछ गौण है। शाम की आरती का लाभ लेने की मुझे इच्छा होती थी परन्तु छात्रावास के नियमानुसार मैं आरती में उपस्थित न रहकर छात्रालय पहुँच जाती थी। कॉलेज का अध्ययन पूरा कर सकी इसका सारा श्रेय महाराज को ही देना चाहिए। क्योंकि मेरे सारे प्रश्नों एवं समस्याओं को हल कर देते थे मेरा एक प्रश्न यह था कि क्यों हम सभी के साथ हिल-मिल कर नहीं रह सकते? तब महाराज ने कहा था कि जैसे 'पाँचों उगलियाँ एक समान नहीं होतीं वैसे सभी मनुष्य एक समान नहीं होते। फिर भी मैं मानता हूँ कि सभी को एक-दूसरे के साथ हिल-मिल कर रहना चाहिए। दूसरों के सुख के लिए त्याग करना चाहिए और कभी भी दूसरों के दोष न देखकर गुण ही देखने चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य अपना विकास भी कर सकता है।" कबीर दास जी ने यथार्थ ही कहा है कि—

बुरा जो देखन मैं गया, बुरा न मिलिया कोई।
जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोई॥

एक बार गर्मी की छुट्टियों में मुझे राजकोट से पोरबंदर जाना था। मैंने महाराज से पूछा कि बस में जाऊँ या रेलगाड़ी से? परन्तु पोरबन्दर तक का अच्छा साथी न मिलने से उन्होंने हवाई जहाज का टिकट मंगवाया। राजकोट-पोरबन्दर की हवाई जहाज की सेवा नई-नई शुरू हुई थी। महाराज ने यह भी कहा था कि 'मान्टू मैं चाहता था कि तुम हवाई जहाज में सफर करो इसलिए मैंने यह व्यवस्था कर दी है।" राजकोट से पोरबन्दर तक आकाश में उड़ने का मुझे तो बहुत मजा आ गया! मेरी यह यात्रा भी मेरे लिए एक अविस्मरणीय संस्मरण बन गयी।

१९७० में मैं पुनः महाराज से मिलने के लिए बेलुड़ मठ गई थी। उस समय विशेष रूप से शारदा मठ में दशहरा का त्योहार मनाने गई थी। वहाँ से मैं ब्रह्मचारिणी बहनों के साथ बेलुड़ मठ में दशहरा पूजा करने गई थी। पूजा-आरती के बाद दोपहर हम सभी वीरेश्वरानन्द जी महाराज से मिलकर बाहर निकली तो सभी कहने लगी कि स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज भी यहाँ हैं। चलो, हम उन्हें भी प्रणाम करने के लिए जायें। मेरे लिए तो ऐसा ही हुआ कि 'भाता था

और वैद्यजी ने कहा।' बहनों की पंक्ति में मैं जान-बूझकर अन्तिम स्थान पर रही, जिससे मैं शांति से महाराज के साथ बातचीत कर सकूँ।

मैंने महाराज को प्रणाम किया तो उन्होंने आश्चर्य के साथ तुरन्त कहा, मीन्टू तुम इन लोगों के साथ कैसे ?

'महाराज, मैं विजया दशमी का त्योहार मनाने आई हूँ। आपसे मिलकर बड़ी खुशी हुई। महाराज ने जल्दी-जल्दी परिवार के सदस्यों के समाचार पूछे। फिर मैंने उनका पता ले लिया। मैं नियमित पत्र लिखती थी परन्तु बाद में कभी-कभी विलम्ब हो जाता था। एक बार तो पत्र लिखने में एक वर्ष का अन्तराल आ गया। फिर वे मुझे राजकोट में ही मिले। उस समय मेरे माता-पिता का देहावसान हो गया था। मैं दोपहर ढाई बजे आश्रम में गई। मुलाकात के लिए एक 'चीट' भेजी। तुरन्त ही मुझे अनुमति मिल गई। उनके कक्ष में प्रवेश करते ही उन्होंने मेरा वात्सल्यभाव से स्वागत किया। और मैं ऐसी भाव-विभोर हो गई कि मेरी आँखों से अश्रु प्रवाह होने लगा। मेरे मन में अनेक उलझने थीं जो सुलझाना चाहती थी परन्तु मैं उनके सामने प्रस्तुत ही नहीं कर सकी। थोड़ी आध्यात्मिक चर्चा हुई। महाराज ने कहा कि तुम्हारे लिए भोजन तथा निवास की व्यवस्था आश्रम में हो गई है।

उसी दिन शाम को तथा दूसरे दिन सुबह में महाराज के सुन्दर आध्यात्मिक प्रवचन का लाभ मुझे मिला। फिर दोपहर को प्रसाद एवं उनका आशीर्वाद लेकर पोरबन्दर आने के लिए निकल गयी। आते समय नया पोरबन्दर देखने आने के लिए मैंने हार्दिक आमन्त्रण दिया। परन्तु एक तो उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था और दूसरी बात यह कि उन्होंने कहा कि मीन्टू तुम्हारे माँ-बाबा अब नहीं रहे हैं अतः किसके पास आऊँ ? मैंने कहा, मैं माँ-बाबा की तरह ही आपको रखूँगी और आपकी सेवा करूँगी।' यह सुनकर वे मुसकराते हुए शांत हो गए।

समय का प्रवाह तेज गति से बह रहा है। जब-जब मैं राजकोट जाती, तब आश्रम में जाती और महाराज के समाचार पूछती। उनका स्वास्थ्य गिरता जा रहा है ऐसा सुनते ही मिलने की तीव्र इच्छा हुई, परन्तु गृहस्थाश्रम और नौकरी की जिम्मेदारी के कारण पोरबन्दर से बाहर जाना मेरे लिए मुश्किल था।

फरवरी १९९४ में मेरी एक बहन जो कलकत्ता में रहती है वह पोरबन्दर आयी। उसने आते ही मुझे कहा कि यदि तुम महाराज भूतेशानन्द जी से मिलना चाहती हो तो मैं अभी यहाँ हूँ इसलिए तुम मिलकर आओ, अब वृद्धावस्था के कारण वे अशान्त हो गए हैं, फिर भी उनका आत्मबल अनुकरणीय है। दूसरे दिन मुझे आत्मस्थानन्द जी का पत्र मिला कि तुम मुझसे मिलने के लिए आओगी तो एक पंथ दो काज हो जाएगा। एक तो पू० भूतेशानन्द जी महाराज से मिलने का लाभ मिलेगा और दूसरा एकांत में शांति से रहने का लाभ मिलेगा। अब मैंने बेलुड़ मठ जाने का पक्का निर्णय कर लिया।

मेरे बच्चों की वार्षिक परीक्षा पूर्ण होते ही मैंने बेलुड़ मठ के लिए प्रस्थान किया। १२ मई, १९९८ को प्रातः बेलुड़ मठ पहुँच गई। सर्वप्रथम तो महाराज से ही मिली। वे एक मिनट तक मुझे पहचान नहीं पाये, परन्तु मैंने कहा कि मैं मीन्टू हूँ. पोरबन्दर से आई हूँ। यह सुनते ही प्रसन्न हो उठे और उन्होंने मेरे दिवंगत माता-पिता को याद किया फिर पूरे परिवार का हाल समाचार पूछा। दूसरे दिन भोजेश्वर गेस्ट हाउस जो अब 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द मेमोरियल' बन गया है, उसके बारे में पूछा।

धीरे-धीरे उन्होंने यह भी पूछा कि जिस बंगले में हम साथ में रहे थे उस बंगले का क्या हुआ ? मैंने कहा, वह बंगला व्हाइट विला—लेण्ड लोर्ड को सौंप दिया है। यह सुनकर वे नाराज हुए क्योंकि उस बंगले में अनेक स्वामी जी के पद चिह्न पड़े थे। अर्थात् वह बंगला एक तीर्थ स्थान जैसा बन गया था। ठीक है—'ईश्वरेच्छा बलीयसी।'

२३ मई, १९९८ को महाराज को प्रणाम कर मैंने कहा कि आज मैं पोरबन्दर जाने के लिए निकल रही हूँ। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए। चलते समय मैंने पूछा, महाराज, हम पुन: मिलेंगे न !

भगवान की जैसी इच्छा···!

उस समय मैंने सोचा तक नहीं था कि वे इतने जल्दी ब्रह्मलीन हो जाएँगे। आज जब ऐसे संस्मरण मेरे स्मृति पट पर आते हैं तो आँखें भर आती हैं। उन्होंने आध्यात्मिक यात्रा के साथ ऐसे सुकर्म किये हैं कि उनकी सुगन्ध चारों ओर फैली हैं। जीवन की सार्थकता देखकर कबीर का यह दोहा याद आ रहा है—

जब तुम आए जगत में, जग हँसे तुम रोय।
ऐसी करनी कर चलो, तुम हँसो जग रोय॥

अन्त में श्री ठाकुर से अन्त करणपूर्वक यही प्रार्थना करती हूँ कि महाराज भूतेशानन्द जी के आशीर्वाद सदैव हम पर बरसते रहें और उनके जीवन से प्रेरणा-पाथेय लेकर हम भी अपना मानव जीवन सार्थक करें।

: इति शुभम् :

अहेतुक कृपासिन्धु

—श्री प्रताप भाई

अनुवादक : डॉ० भूलिका त्रिवेदी

राजकोट

पू० स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज के साथ का सम्बन्ध मेरे हृदय की अमूल्य संपत्ति है। उनके साथ बिताये हुए प्रत्येक क्षण संवेदना से भरे हुए हैं। उसमें कोई विशेष भौतिक प्रसंग नहीं है परन्तु वह तो अंतरात्मा की अनुभूति है। इन्हें शब्दबद्ध करना कठिन है फिर भी एक दो प्रसंग लिखता हूँ जिसमें एक अनभिज्ञ, अबूझ और अकिंचन युवक के प्रति महाराज की भक्तवत्सलता, सहृदयता एवं अनुकम्पा प्रकट होती है।

महाराज के साथ प्रथम मुलाकात आज से करीब ५० वर्ष पहले जनवरी १९४८ में हुई थी। इतने वर्षों के बाद भी वह संस्मरण मेरे स्मृति पट पर अंकित है। उस समय मेरी आयु मात्र अट्ठारह वर्ष की थी। मैं धर्मेन्द्र कॉलेज में दाखिल हुआ था। मैं पढ़ाई के साथ-साथ गीता, उपनिषद् तथा वेद का अध्ययन किया करता था। संभवत: कॉलेज के प्रिन्सिपल डॉ० याज्ञिक साहब ने किसी को बताया था कि इस विषय की पुस्तकें पास में स्थित 'रामकृष्ण आश्रम' में मिल सकती हैं। अत: मैं रामकृष्ण आश्रम में जाने को सोच रहा था।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर दूँ कि उस समय मैं रामकृष्ण देव, स्वामी विवेकानन्द तथा रामकृष्ण मिशन के बारे में बिलकुल अनभिज्ञ था।

रामकृष्णदेव का नाम बचपन में अपने पिताजी से सुना था। उनके पास 'लीला प्रसंग' पुस्तक के सभी भाग थे। परन्तु उन्हीं रामकृष्ण के नाम पर यह आश्रम बना है, यह मुझे मालूम नहीं था। हमलोग गाँव में रहते थे। हमारे घर में 'चंडीपाठ' एवं दुर्गाष्टमी का हवन होता था, इतना मुझे याद है।

जब मैं आश्रम में प्रथम बार गया तब मेरा इरादा पुस्तकालय से गीता-उपनिषद् की अंग्रेजी अनुवाद की पुस्तकें प्राप्त करने का था। शाम के चार बजे थे और भूतेशानन्द जी महाराज बरामदे में खड़े थे। वहाँ अब स्वामी जितात्मानन्द जी का कार्यालय और रामकृष्ण ज्योत का कार्यालय है उसके बीच की जगह में बरामदा था। साधुओं को प्रणाम करना चाहिए ऐसा विचार भी मेरे मन में नहीं आया, अतः मैंने तो सीधा प्रश्न पूछा, "क्या यहाँ कोई पुस्तकालय है? क्या यहाँ से मैं कुछ पुस्तकें प्राप्त कर सकता हूँ?

महाराज : हाँ, यहाँ एक छोटा-सा पुस्तकालय है, किन्तु आपको किस प्रकार की पुस्तकें चाहिए?

प्र० : मुझे गीता-उपनिषद का अंग्रेजी अनुवाद चाहिए। मैंने गुजराती अनुवाद पढ़े हैं लेकिन उनमें से ठीक अर्थ प्रकट नहीं होता। मैं थोड़ी-सी संस्कृत जानता हूँ इसलिए मैं अपने आप सही रूप में अर्थ घटन नहीं कर पाता।

महाराज : क्या तुम यह मान सकते हो कि सिर्फ सही अर्थ पढ़ने से यह समझ सकोगे?

प्र० : (यह प्रश्न अनपेक्षित था, इसलिए मैं असमंजस में पड़ गया। फिर भी मैंने उत्तर दिया।)

अच्छा, महाराज! मैं अपनी ओर से प्रयत्न करूँगा और यदि मैं कुछ न समझ सका तो मैं समाधान के लिए आपके पास आऊँगा। क्या मैं आ सकता हूँ न? (ये शब्द मेरे मन में कैसे आए यह मेरी समझ में नहीं आया क्योंकि मैं उनके बारे में कुछ भी जानता नहीं था।)

महाराज : (एक मिनट सोचने के बाद) हाँ, तुम आ सकते हो। आओ मेरे साथ, मैं तुम्हें पुस्तकें देता हूँ।

और इसके बाद महाराज के साथ मैं जिस ऐतिहासिक कक्ष में दाखिल हुआ, वहाँ ही महाराज रहते थे। 'ज्योत' के संपादक का वर्त्तमान छोटा-सा कक्ष, जहाँ मैं महाराज के साथ घण्टों तक सत्संग करता था, उसकी स्मृति आज ५० वर्षों के बाद भी मुझे आनंद के महासागर में डुबो देती है।

पुस्तक कौन-सी थी वह मुझे बिल्कुल याद नहीं है। संभवतः केन उपनिषद थी। मात्र दस मिनट की मुलाकात के बाद पुस्तक लेकर मैंने विदा ली। परन्तु उसी दस मिनट ने मेरे अंतः स्थल में बड़ी उथल-पुथल मचा दी। मुझे कुछ समझ में नहीं आता था कि उनके प्रति इतना; अदम्य आकर्षण क्यों हो रहा है? मुझे ऐसा लगता था कि मानो मुझे मेरे पिताजी पुनः वापस मिल गये हैं। (मेरे पिताजी का देहान्त १९४६ में हुआ था।) एक तरह की तंद्रा की स्थिति का अनुभव करता हुआ मैं पुस्तक लेकर धर्मेन्द्र कॉलेज के पीछे के मैदान में गया और वहाँ बैठकर पुस्तक पढ़ने की कोशिश करने लगा। परन्तु मेरा मन कहीं और चला गया था।

दूसरे दिन मैं फिर 'रामकृष्ण आश्रम' में पहुँच गया। उस समय देखा कि महाराज किसी के साथ कार्य में व्यस्त हैं। दो-तीन दिन ऐसे ही गए, मुलाकात नहीं हुई। एक दिन शाम को ६-३० बजे उधर गया। महाराज आगे के आँगन में बेंच पर बैठे थे। (आज वहाँ स्कूटर स्टैन्ड है। उसके आगे एक बेंच थी।)

वहाँ महाराज अकेले ही बैठे थे। आरती का समय हो रहा था इसलिए आँगन में और कोई नहीं था। अत्यंत तृष्णातुर व्यक्ति पानी को देखकर जिस तरह दौड़े उसी तरह मैं किसी भी औपचारिकता के बिना उनके पास दौड़कर गया और उनके पास बैठ गया, जैसे एक किशोर अपने पिता के पास बैठता है। महाराज ने उसी बेंच पर ऐसी व्यवस्था कर दी कि मैं उनके पास आराम से बैठ सकूँ।

(रे अबोध युवक! तू तो संवेदनों से अभीभूत होकर उनके समीप जा बैठा जैसे एक किशोर अपने पिता के पास बैठता है। किन्तु तू यह कैसे समझ पायेगा कि सिर्फ दस ही मिनट के परिचय में उनके साथ ऐसी आत्मीयता की अनुभूति तुझे क्यों होती हैं? तू यह भी नहीं जानता है कि जिनके पास तू बैठा है वे एक महान् संत, महान् त्यागी, महान् तपस्वी, ब्रह्मज्ञानी, इस आश्रम के अध्यक्ष और भविष्य में हजारों मनुष्यों के लिए प्रेरणामूर्ति, पथ-प्रदर्शक एवं एक वैश्विक आध्यात्मिक संगठन के संघाध्यक्ष-संघगुरु हैं। अरे! ब्रज के निवासी भी कहाँ जानते थे कि उनके गोपाल द्वारकाधीश बनेंगे और कुरुक्षेत्र के योगेश्वर बनेंगे? उनके लिए तो यह समय की लीला ही शाश्वत लीला थी!)

मैंने कुछ शिकायत के स्वर में कहा; "महाराज, आप जानते नहीं है कि मैं आप से मिलने के लिए कितना उत्सुक हूँ! आपने जो पुस्तक मुझे दी है उसके बारे में मेरे मन में कई प्रश्न उठे हैं। मैं दिन में दो बार आप से मिलने के लिए इधर आता हूँ किन्तु आप तो हमेशा व्यस्त दिखाई देते हैं। सद्भाग्य से आज आप मुझे मिल गए। कृपया मुझे यह बता दीजिए कि जब मुझे आपसे मिलने की इच्छा हो तब मुझे क्या करना चाहिए?

महाराज एक क्षण मेरी ओर देखते रहे फिर उन्होंने एक असाधारण विकल्प बताया—"हाँ, तुम्हारी बात सही है। मैं प्रायः सुबह और शाम बहुत ही व्यस्त रहता हूँ, किन्तु दोपहर १२-३० से ३-३० तक तथा शाम को ७-०० से ८-३० तक प्रायः खास कोई काम नहीं रहता। यदि इस समय में तुम्हें अनुकूलता है, तो आ सकते हो।

अच्छा महाराज! यह समय तो मुझे बहुत ही अनुकूल है, परन्तु दोपहर का समय तो आराम का रहता है और शाम का समय प्रार्थना का रहता है।

महाराज ने आत्मीय भाव से कहा, इसके लिए तुम चिन्ता मत करो। दोपहर के समय मुझे कोई तकलीफ नहीं होगी और तुम शांति से बातचीत कर सकोगे। और यदि मुझे आराम की जरूरत होगी तो मैं चारपाई पर लेट जाऊँगा और उस समय तुम पुस्तक पढ़ सकोगे अथवा जमीन पर लेट कर आराम कर सकोगे। जहाँ तक शाम का समय है तो उस समय तुम धार्मिक पुस्तक के बारे में चर्चा करने के लिए आ सकते हो और यदि कोई चर्चा करनी न हो तो तुम मेरे पास शांति से बैठकर ध्यान और चिंतन कर सकोगे या तो आरती के समय मंदिर में जाकर ध्यान कर सकोगे। याद रखना कि सारा समय ही प्रार्थना-पूजा का समय बनना चाहिए।

महाराज ने जो कुछ कहा था वह कितना असाधारण था! एक अपरिचित नासमझ युवक के लिए वह अपना कीमती आराम का समय भी देने के लिए तैयार थे। कितनी अनुकंपा! कितनी करुणा! और उनके साथ एकान्त में रहने का सुअवसर, उनके साथ ध्यान करने की अनुमति, यह सब उनकी परम कृपा और उदारता से ही हुआ। परन्तु उस वक्त ये सारी बातें समझने की मुझमें शक्ति नहीं थी। किन्तु मैं बहुत प्रसन्न था

क्योंकि मुझे उनके सान्निध्य में दो-तीन घण्टे रहने का जो समय मिलेगा वह मेरे मन को शांति और आनन्द प्रदान करेगा।"

(इस वक्त श्रद्धांजलि के समय पू० प्रागजी महाराज ने कहा कि दोपहर को भोजन के बाद कोई आराम में विक्षेप खड़ा करे तो किसी को अच्छा नहीं लगता। किन्तु महाराज अध्यक्ष होते हुए भी इसको ध्यान में नहीं लेते थे। उन्होंने तो दोपहर को दो बजे महाराज को सिर्फ चाभी ही सौंपने दी थी। जिसके लिए महाराज खुद उनकी प्रतीक्षा में बैठे थे यह बात बताई थी। परन्तु इस प्रसंग के दस वर्ष पहले एक युवक के लिए दोपहर का समय सहर्ष देने के लिए प्रस्तुत हुए थे यह बात कौन जानता है ?)

और फिर शुरू हुआ मुलाकात का सिलसिला! मैं करीब साढ़ बारह बजे आ पहुँचता। मुख्य दरवाजा बंद करके महाराज के कक्ष में महाराज के समीप बैठ जाता। वे उपनिषद्-गीता, ब्रह्मसूत्र के बारे में बातें करते थे और मैं बीच-बीच में प्रश्न पूछता और वे प्रश्नों के उत्तर देते जाते थे। फिर ढाई बजे वे लेट जाते थे और मैं कभी पढ़ता रहता तो कभी जमीन पर लेट जाता था।

महाराज की विशेषता थी कि वे कभी थके हुए दिखायी नहीं देते थे। फिर भी कभी लम्बी यात्रा से आए हों तब मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि वे थक गये हैं और उस समय मैं उनकी चरण सेवा के लिए प्रार्थना करता और वे मुझ पर कृपा करने के लिए ही मेरी प्रार्थना को स्वीकार करके मुझे अपनी सेवा का अवसर प्रदान करते थे। आज पचास साल के बाद भी मैं उनके चरण के पावन-स्पर्श की अनुभूति कर रहा हूँ और रोमांचित हो रहा हूँ।

दो वर्ष में मैं लगभग सौ बार उनसे मिला था। अगर दोपहर को न मिल पाया हो तो शाम को मिलने के लिए जाता था और वहीं बेंच पर उनके पास बैठ जाता और इस प्रकार एक अटूट आंतरिक सम्बन्ध का गठन होता जा रहा था।

चार पाँच महीने के आवागमन के बाद एक शाम को वार्तालाप के बाद महाराज ने कहा, "प्रताप, तू किताबें बहुत पढ़ता है यह अच्छी बात ही है परन्तु याद रखना कि विविध लेखकों की किताबें पढ़ने से कभी-कभी मन में घोटाला हो सकता है, खास तौर से जब मन में पूर्ण रूप से विवेक बुद्धि जागृत न हुई हो तब सावधान रहना चाहिए। इसलिए मैं सतर्क करता हूँ कि तुम्हें ऐसी पुस्तकें पढ़नी चाहिए जिनमें सारे दर्शनों का सारतुल्य आ जाता हो और जो उनका समन्वय करते हों तथा विरोधाभासी विचारधारा के प्रश्नों का समाधान करते हों। 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' में ऐसा सारतत्व है। इसे तुम आश्रम के पुस्तकालय से प्राप्त भी कर सकोगे।

फिर मैंने 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' पढ़ना शुरू किया। पढ़ते समय उठने वाली उलझनों को महाराज के समक्ष रखता था और वे मेरी उलझनों को सुलझा देते थे।

(यहाँ एक और बात, महाराज ने मुझे ऐसा समय दिया था कि दो-तीन महीने तक किसी को मेरे आने का पता ही नहीं चला। पू० विभूति महाराज (उन दिनों ब्रह्मचारी थे) जैसे विचक्षण व्यक्ति को भी उसका पता नहीं चला। लेकिन जब उनको मालूम हुआ तब मुझे बहुत डांटा। एक तो महाराज के आराम के समय उनको विक्षेप पहुँचाने के लिए और बड़े लोगों के साथ किस तरह व्यवहार करना चाहिए इसकी सूझ-बूझ न होने के कारण नाराज हुए। दूसरे दिन जब महाराज से इस सम्बन्ध में पूछा तो वे बहुत जोर से हँसने लगे। और जो व्यवस्था हुई थी

उसे चालू रखने के लिए कहा। दूसरे भी उनके कई प्रसंग है परन्तु विषयवस्तु दीर्घ न हो जाय इस दृष्टि से मैं मात्र एक ही प्रसंग प्रस्तुत करता हूँ।

सन् १९५० में मुझे नौकरी मिली इसलिए मैं जामनगर गया और १९५२ में बड़ौदा गया। इन दिनों में जब राजकोट आता उसी समय मैं महाराज से मिलने के लिए आ पहुँचता और पत्र द्वारा संपर्क चालू ही था। बड़ौदा में एक रूम किराये पर रखकर मैं अकेला ही रहता था वह बात मैंने महाराज को कही थी।

सन् १९५३ में महाराज को एम० एस० यूनि० में दो व्याख्यान देने के लिए और एक-दो दूसरे काम के लिए बड़ौदा आना था। उन्होंने मुझे आने का कार्यक्रम लिखा। मैं महाराज को लेने के लिए स्टेशन पर पहुँचा। मैंने देखा कि महाराज को लेने के लिए स्टेशन पर एक दो फेकल्टी के प्राध्यापक, दो-तीन उद्योगपति, पुलिस अधिकारी, अन्य अधिकारी तथा बहुत-से लोग आए थे। जब रेलगाड़ी आई तो अपने स्वभाव के अनुसार मैं सबके पीछे खड़ा रहा। महाराज रेलगाड़ी से नीचे उतरे तब मैंने देखा कि महाराज की दृष्टि मेरी ओर पड़ी है। सभी महानुभावों ने पुष्पमाला से उनका स्वागत किया। यूनिवर्सिटी के एक प्राध्यापक ने कुलपति का संदेश देते हुए कहा, "यूनिवर्सिटी केम्पस के अतिथिगृह में आपके रहने की व्यवस्था की गई है। पुलिस अधिकारी ने कहा, सर्किट हाउस में भी आपके लिए व्यवस्था है। प्रत्युत्तर में महाराज ने कहा, आप सबका आभार। किन्तु मेरे रहने की व्यवस्था वही दूर खड़ा हुआ जो युवक है। उसने की है यह कह कर उन्होंने मुझे अपने पास बुलाया और मेरे कंधे पर अपना हाथ रखा। मैं चौकन्ना-सा हो गया और चुपचाप खड़ा रहा। धीरे-धीरे सब लोग चले गए फिर मैंने महाराज से कहा, महाराज, आपने मुझे रहने की व्यवस्था के बारे में कुछ लिखा ही नहीं था इसलिए मैंने तो कुछ व्यवस्था नहीं की है और मैं तो घबड़ाहट अनुभव करता हूँ। अब मुझे क्या करना है, यह आप ही बताइए।

महाराज ने कहा—अच्छा, तुमने तो मुझे पहले लिखा था कि तुमने किराये पर रूम रखा है और तुम अकेले ही रहते हो। रूम के साथ टोयलेट जुड़ा हुआ है और यह रूम स्वतंत्र है। मेरे आश्रम के कक्ष से तुम्हारी रूम की स्थिति बढ़िया है, इसलिए तेरे रूम में मैं दो दिन रहूँगा।

महाराज, आप ऐसा सोच सकते हैं लेकिन मैं तो सचमुच घबड़ा गया था। मेरे पास कोई फर्निचर नहीं है सिर्फ एक ही शैय्या है। मैं खाना भी होस्टल से मंगवाता हूँ। दूध गरम करने के लिए मेरे पास सिर्फ एक स्टोव है।

महाराज—अति उत्तम! यही तो हम चाहते हैं। मैं सफर में एक बेडिंग अवश्य रखता हूँ। और सुबह में गरम दूध की आवश्यकता रहती है। जहाँ तक भोजन का प्रश्न है—तो कई भक्तों ने मुझे उनके साथ भोजन लेने का निमंत्रण दिया है। अत: अब कोई समस्या ही नहीं है।

अब मुझे कुछ कहना ही नहीं है। रूम पर पहुँच कर शीघ्र ही मैं एक मित्र के घर जाकर एक 'चारपाई' और एक 'कुरसी' ले आया। यों तो महाराज ने कहा कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। स्नान करके महाराज तैयार हुए, तब तक मैंने दूध गरम कर लिया। फिर उन्होंने कहा कि बारह बजे एक भक्त के घर जाना है। मैं टांगे में महाराज को वहाँ पहुँचाने के लिए गया और उन भक्तों के परिवार वालों के आग्रह से मैंने भी महाराज के साथ वहाँ भोजन किया। भोजन के बाद वहाँ महाराज के लिए खास तैयार किए हुए गेस्ट रूम में—सब तरह की आधुनिक सुविधाएँ

थों—उस समय के अनुरूप महाराज के पास पुराने कार्यक्रम के मुताबिक—महाराज पलंग पर और मैं उनके पास जमीन पर लेटा। फिर ३.३० बजे जब मैं जाने के लिए तैयार हुआ तब मैंने उनसे पूछा कि मैं कब लेने के लिए आऊँ ?

महाराज—तुम्हें इस सम्बन्ध में चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। मैं अपने आप ९.०० बजे के पहले आ जाऊँगा। मेरे पास तुम्हारा पूरा पता है।

उस तरह महाराज मेरे कमरे में दो दिन रहे। अब इस प्रसंग के बाद महाराज के लिए मुझे क्या लिखना है, यह मेरी शक्ति के बाहर की बात है। एक शब्द—अहैतुक कृपासिंधु—

□

वार्तालाप एवं साक्षात्कार :

मार्ग-दर्शन

—स्वामी जितेन्द्रानन्द
बेलुड़ मठ

बेलुड़ मठ के कतिपय साधु-ब्रह्मचारीगण के प्रश्न और परमपूज्यपाद स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज के उत्तर।

[प्रस्तुत संकलन के अधिकांश प्रश्नोत्तर बंग- भाषा में हुये थे।]

प्रश्न—महाराज, क्या कर्म-योग का मतलब बहुत काम करना है ?

महाराज—नहीं, ऐसा नहीं है। हम प्रतिक्षण कार्य कर रहे हैं। लेकिन कर्मयोग कैसे करना चाहिये, हम नहीं जानते। यदि हम अनासक्त भाव से सभी कर्म करते जायँ तो धीरे-धीरे चित्तशुद्धि हो जाती है और साधक भगवान से मिलकर एक हो जाता है। चित्तशुद्धि हुए बिना भगवान लाभ सम्भव नहीं है। प्रारम्भ में कर्मयोग बड़ा ही सरल है, क्योंकि यह (कर्म) प्रतिक्षण किया जाता है बस आवश्यकता है अनासक्त होने की।

प्रश्न—महाराज, सत्-असत्-चिन्तन या इष्ट-मन्त्र जप इनमें से किसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये ?

महाराज—जिस समय जो भाव घनीभूत हो उस समय वही करना चाहिये। भाव से मेरा मतलब स्थायी भाव से है।

प्रश्न—महाराज अर्थ-सहित मन्त्र जप करने का क्या अर्थ है ?

महाराज—केवल मन्त्रजप करने से तो वह केवल यन्त्रवत् कार्य मात्र होगा। मन्त्र के साथ अर्थ चिन्तन करने से धीरे-धीरे मन उपास्य

देवता में स्थिर होता है और उनमें अनुराग पैदा होता है।

प्रश्न—महाराज श्रद्धा कैसे उत्पन्न हो ?

महाराज—गुरु और शास्त्र वाक्य में विश्वास रखने से श्रद्धा उत्पन्न होती है। शास्त्र कहता है—तुम शरीर नहीं, इन्द्रिय नहीं, मन नहीं, चैतन्य स्वरूप आत्मा हो। लेकिन क्या हमारा इस पर विश्वास होता है ? विश्वास होते ही आत्मा स्वप्रकाशित होता है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञ पुरुष कहते हैं—तुम ब्रह्म हो। लेकिन हमें विश्वास नहीं होता है। विश्वास होने पर उसी क्षण ब्रह्म की अनुभूति होने लगती है।

उपनिषद् में एक कथा आती है। शिष्य कहता है कि विश्वास नहीं होता। गुरु बोलते हैं—१२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करो। शिष्य पुनः कहता है—विश्वास नहीं होता। गुरु पुनः १२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करने को कहते हैं। इसी प्रकार कई बार ब्रह्मचर्य पालन करने को भेजते हैं। कठोपनिषद् में क्या है ? नचिकेता को श्रद्धा हुई थी। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' श्रद्धा का मतलब जैसे सुना विश्वास कर लिया।

प्रश्न—वैराग्य को किस प्रकार जगाये रखें ?

महाराज—सदा असत् विचारों को सत् विचारों से दूर रखकर। जब भी मन में बुरे विचार आवें तो सच्चिन्तन द्वारा उन्हें दूर रखना। सदा सत् विचारों का चिन्तन करना जिससे असत् विचार आने ही न पावें।

प्रश्न—महाराज जप में मन कैसे लगे ?

महाराज—लगातार अभ्यास से।

प्रश्न—महाराज, अजपा-जप के समय भी सदा नामी का चिन्तन होता रहता है।

महाराज—हाँ, अजपा का मतलब प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ मन्त्र का जप होता है और साथ-ही-साथ प्रतिपाद्य देवता का चिन्तन भी होता है। लेकिन यह बड़ी कठिन बात है। सब समय ईश्वर चिन्तन करना कठिन है। इसीलिए कर्मयोग का सहारा लिया जाना ठीक है।

प्रश्न—महाराज, ठाकुर जी कहते हैं—अद्वैत ज्ञान अन्तिम बात है।

महाराज—अन्तिम बात का मतलब निराकार दर्शन के बाद रूप तथा चित्तवृत्तियाँ नहीं रह पातीं। सबका लय हो जाता है। उसके बाद कुछ शेष नहीं बचता है। इसका मतलब यह नहीं है कि अद्वैत-ज्ञान सबसे अच्छा है। अद्वैत, द्वैत, विशिष्टा द्वैत, द्वैताद्वैत—ये सब हमारी मान्यतायें हैं। किसी के द्वारा वहाँ तक पहुँचा जा सकता है। कोई छोटा बड़ा नहीं है। ठाकुर जी कहते हैं-नित्य के बाद लीला, लीला के बाद नित्य। एक वृत्त बना है। फिर किसको अच्छा और बुरा कहोगे ?

प्रश्न—महाराज जप और प्रार्थना किस प्रकार करें और किसको वरीयता दें।

महाराज—जप के साथ-साथ उसका अर्थ तथा आराध्यदेवता का चिंतन करना चाहिये। प्रार्थना का मतलब यह नहीं है कि हमें ये दो, वो दो आदि। प्रार्थना के समय हृदय में ठीक-ठीक अभाव बोध तथा प्रेम होना चाहिये। जप तथा प्रार्थना दोनों ही ठीक है। दोनों ही भगवान के पास जाने के पथ हैं। कुछ लोगों को जप करना अच्छा लगता है और सरल सहज लगता है तो कुछ को प्रार्थना करना सहज लगता है। दोनों ही ठीक हैं पर आन्तरिकता से किया जाना चाहिये।

प्रश्न—महाराज, Work and worship तथा work is worship इसका क्या मतलब है ?

महाराज—यह स्वामी जी का वाक्य है। हम लोग काम-काज करते हैं और भगवान की पूजा भी करते हैं। लेकिन एक धारणा है जिसमें प्रत्येक

कर्म ही पूजा समझ कर किया जाता है। लेकिन यह बहुत ही कठिन बात है। प्रत्येक श्वास-प्रश्वास भी कर्म का ही रूप है! सबको भगवान की पूजा समझना कठिन बात है। इसीलिये हमलोग दोनों कर्म और पूजा करते हैं।

प्रश्न—महाराज जप के साथ शास्त्र चिन्ता हो तो ठीक है?

महाराज—नहीं, जप के साथ केवल नामी का ही चिंतन करना चाहिये। क्या राम का नाम ले रहा हूँ और चिन्ता करूँगा श्याम की? ऐसे होगा नहीं। जप के समय केवल जप, शास्त्र पाठ के समय केवल शास्त्र पाठ।

प्रश्न—महाराज कभी-कभी दो विचार सामने खड़े होते हैं। परस्पर विरोध होता है तो किसको मानना चाहिये?

महाराज—विचार करके जो निश्चित हो वही मानना चाहिये। स्वयं विचार करना चाहिये। अन्य किसी पर हर प्रश्न के उत्तर के लिये निर्भर नहीं होना चाहिये। एक बार मैंने सारदानन्दजी महाराज से ऐसा ही प्रश्न किया था वे बोले, 'क्या सभी प्रश्न के लिये मेरा ही मुख देखोगे? यदि ऐसा हुआ तो तुम्हारा आत्मविश्वास कैसे बढ़ेगा? स्वयं खोजो।' क्या तुम समझते हो कि मैं सब समय रहूँगा?' तो स्वयं ही विचार करना सीखो। फिर (तुमलोग) कहोगे कि आपने ही प्रश्न पूछने के लिये कहा। तो क्या इसलिये कहा कि मैं उत्तर देने को प्रस्तुत हूँ? नहीं, इसलिये कि विचार करना प्रारम्भ करो।

प्रश्न—ॐ ह्रीं ऋतं का अर्थ क्या हैं।

महाराज—ॐ माने ब्रह्म, ह्रीं माने शक्ति, ऋतं माने सत्य। तुम ही ब्रह्म, तुम ही शक्ति, तुम ही सत्य। ब्रह्म शक्ति अभेद!

प्रश्न—महाराज व्याकुलता क्या है?

महाराज—सब समय भगवान को आकुल होकर चाहना ही व्याकुलता है। व्याकुलता होने पर सब अलोना लगता है। फिर साधक उनको छोड़कर कुछ नहीं चाहता। व्याकुलता कैसी होती है? ठाकुर खुद ही बालक के समान हाथ-पैर पीट कर, रो-रो कर, व्याकुल होकर दिखा देते हैं। यह नाटक नहीं, सच्ची व्याकुलता है। देखकर संशय दूर हो जाता है। हम लोगों को नहीं है तो क्या करेंगे? किसी पेड़ में थोड़े ही पड़ी हैं कि गिर जायेगी और मिल जायेगी।

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'

अभ्यास और वैराग्य से प्राप्त होगी।

प्रश्न—महाराज, व्याकुलता के लिये साधन प्रयोजन है?

महाराज—हाँ, साधन करते-करते व्याकुलता होगी और तब ही सच्चा साधन भी शुरू होता है।

प्रश्न—महाराज, अनेक लोग तपस्या के लिये यहाँ-वहाँ जाते हैं। क्या बेलुड़-मठ में रहकर भी कर सकते हैं।

महाराज—यदि ऐसा ही है तो तुम घर छोड़-कर यहाँ क्यों चले आये? घर में भी साधना कर सकते थे? यहीं तो समझ कर कि वहाँ विच्छेप के बहुत से विषय हैं। यहाँ भी वही बात है। भले ही उतने परिमाण में न हो। हमलोगों में भी परस्पर बन्धन है। ठाकुर निर्जनवास की बात बोलते हैं। इसका मतलब भगवान और स्वयं को छोड़कर तीसरा और कोई बीच में न हो। इसीलिये बाहर जाकर तपस्या का प्रयोजन है। लेकिन जानते हो निर्जन क्या होता है? उत्तरकाशी की बात है! एक साधु अपना आसन लेकर घूमते रहे निर्जन की खोज में। यहाँ बैठे, विघ्न होने पर चल दिये। वहाँ बैठे विघ्न होने पर चल दिये। इसी

प्रकार उनको कहीं निर्जन नहीं मिला। अन्त में वे एक सुन्दर गुफा के पास गये। बहुत शान्त! सोचे पा गये शान्ति की जगह। थोड़ी देर ध्यान किया था कि फिर आसन लेकर चलते बने। उनको देखकर और एक दूसरे महात्मा ने पूछा—'बाबा तपस्या करने के लिये आये थे, कहाँ जा रहे हो?' उन्होंने कहा, 'शान्ति की जगह खोज रहा था। परन्तु गुफा के मुँह पर कुछ पक्षी, कच-कच कर रहे हैं। यहाँ भी शान्ति नहीं। इसपर दूसरे महात्मा बोले, 'बाबा पहले अपने मन की कच-कची दूर करो।' अतएव कहीं भी शान्ति नहीं है। मन की ऐसी अवस्था जब तक नहीं आ जाती कि बाहरी-द्रष्टव्य वस्तु से मन में कोई तरंग या विक्षेप न हो, तब तक ठीक-ठीक निर्जनवास नहीं हो सकता। इसीलिये ठाकुर जी साधु-संग और व्याकुल होकर प्रार्थना तथा निर्जवास पर बार-बार जोर देते हैं। प्रारम्भ में निर्जनवास ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ भी मन का संसार चलता ही रहेगा। इसलिये पहले साधन-भजन और साधु-संग द्वारा मन को ऊँचा उठा लेने से निर्जनवास अच्छा है।

प्रश्न—महाराज, स्वामी जी ने कहा है कि बेलुड़मठ में ठाकुर जी का सर्वाधिक प्रकाश है?

महाराज—तो क्या अन्य सब जगह उनका कम प्रकाश है? जिसके प्रकाश से ही सारा जगत् चन्द्र-सूर्य नक्षत्र प्रकाशमान है, उसका क्या कहीं कम या अधिक प्रकाश होगा? 'तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति।'

प्रश्न—महाराज, भगवान कहते हैं 'नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे ·····।'

महाराज—तो क्या वैकुण्ठ भगवान से खाली हो जायेगा? यह एक और बात है कि किसी अन्य विषय पर जोर देने के लिये ऐसा कहा गया है। जो भगवान को सर्वत्र देखता है, सर्वभूतों में देखता है उसके लिये तीर्थ आदि कुछ भी नहीं हैं। उसके लिये कोई स्थान-माहात्म्य नहीं है। तो क्या स्वामी जी ने जो कहा वो गलत है? नहीं, हमलोगों की भेद बुद्धि है। हम लोगों की दृष्टि से हमारे लिये उनका यहाँ विशेष प्रकाश है। उनकी दृष्टि से नहीं। उनकी दृष्टि से सर्वत्र ही उनका एक ही प्रकाश है। एक बार एक साधु को ब्रह्म की महिमा बताते हुये (महामण्डलेश्वर) धनराज-गिरी का आँख-मुँह लाल हो गया। वे बोलने लगे—सब ओतप्रोत है, सब भरा है, सब भरा है।

प्रश्न—महाराज, ठाकुर जी की भावावस्था और भाव मुख में अन्तर है क्या? कोन-सी ऊँची अवस्था है?

महाराज—हाँ अन्तर है। भावावस्था में जगत को जैसा साधारण आदमी देखता है वैसा वे नहीं देखते। भाव मुख अवस्था वह है जहाँ से सम्पूर्ण भाव की उत्पत्ति हो वहाँ अवस्थान करना। वहाँ रहने से द्वैत और अद्वैत दोनों का समान ज्ञान रहता है। भावमुख अवस्था ऊँची अवस्था है।

प्रश्न—महाराज, सत्यनिष्ठा क्या है?

महाराज—सर्वनाश होने पर भी सत्य को न छोड़ना ही सत्यनिष्ठा है। किसी भी प्रकार समझौता नहीं किया जा सकता। यह नहीं कि 'अश्वत्थामा हतो इति नरो वा कुञ्जरो।' एक बार मैं एक मन्दिर में ब्रह्मचारी के रूप में रहता था। ठाकुर सेवा करता था। घाट पर एक रुपया पड़ा हुआ था। ज्वार आया हुआ था। मैंने सोचा कि यह पैसा लेकर ठाकुर जी की सेवा में लगा दूँ। फिर सोचा यह तो मिथ्या होगा। जिसका रुपया गिरा हो यदि वह खोजता हुआ आवे तो? यह सोच कर मैं जल लेकर चला गया। फिर सीढ़ी के ऊपर मंदिर से बाहर आकर देखा। रुपया नहीं है। मैंने सोचा क्या यह परीक्षा है? यह तो

रही एक रुपये की बात वहीं पर एक सौ रहता तो मैं क्या करता ? एक बार School Final में मैं संस्कृत की परीक्षा दे रहा था। एक प्रश्न में मैंने 'ल्यप्' उत्तर लिखा था। दो अन्य लड़के बात कर रहे थे उनसे सुना वह शब्द अव्यय था। तो सोचा सचमुच में तो वह अव्यय है। फिर सोचा सही लिख दूँ। तुरन्त विचार आया कि नहीं, यह कार्य मिथ्या होगा। फिर अपना उत्तर काट दिया। यह तो एक अंक रहा, यदि अधिक अंक की बात होती तो क्या करता ?

प्रश्न—महाराज जो आगे गलती उत्तर लिखे थे वह मिथ्या नहीं है ?

महाराज—नहीं, वह मिथ्या नहीं वह भूल है। सत्य और मिथ्या में बड़ा अन्तर है। वह न जानते हुए हो रहा था जबकि मिथ्या जानकर बोलते हैं।

प्रश्न—महाराज, हमलोग कभी किसी को वचन देते हैं कि अमुक काम करूँगा लेकिन यदि किसी अन्य कार्य में फँसकर वह नहीं कर पाता हूँ तो वह मिथ्या ही हुआ ?

महाराज—विवशता वश वा असमर्थता वश यदि वह नहीं कर पाते तो दोष नहीं होगा। जान-बूझकर स्वार्थवश यदि वचन पूरा नहीं करते तो दोष लगेगा। सत्यनिष्ठा का अर्थ है सर्वनाश होने पर भी सत्य बोलना।

प्रश्न—महाराज, जप के समय नींद क्यों आती है ? इसे रोकने का क्या उपाय है।

महाराज—नींद आने के दो कारण हैं—प्रथम मन का महातमोगुणामच्छन्न होना। दूसरा है—शरीर का अधिक थका होना। जप के समय मन को विषयों से हटा लेते हो जिसमें वह गमन करता रहता है अतः इन्द्रियों को बहुत आराम मिलता है। और सतर्कता की कमी होने से नींद आ जाती है। इस समय यदि सतर्क रहो तो नींद नहीं आयेगी। यह अभ्यास और सत्संग करने से होगा। ठाकर बोलते हैं न ? 'यदि चोर ने सेंघ लगायी और दूसरे घर में पहुँच गया। वह जानता है कि पास वाले घर में सोना-चाँदी पड़ा है तो क्या वह सो जायेगा ? या उसको पाने के लिये उसका जी तड़पेगा और वह आवश्यक प्रयास करेगा ? उसी प्रकार जिनका मन भगवान के लिये व्याकुल है उनको नींद कभी नहीं आयेगी। मन सदा भगवन्नाम करेगा। जप के लिए बैठने पर स्वामी जी कहते हैं कि मन को स्वतन्त्र छोड़ दो उसको देखो कहाँ जाता है ? क्या करता है ? ऐसा करने से धीरे-धीरे मन शान्त हो जायेगा, विच्छेप रहित हो जायेगा। उसके बाद जप करना आरम्भ कर देना चाहिये। अन्यथा मन नाना विषयों में घूमने लगेगा और शान्त होने पर निद्रा आ जायेगी।

और यदि शरीर थका हुआ है तो। कुछ देर आराम के बाद ही जप करना ठीक है। अन्यथा इससे कोई काम नहीं होता। यन्त्रवत् कभी जप हुआ, मन खोया है। इससे तो अच्छा है विश्राम करने के बाद अल्प समय ही सजग होकर जप किया जाय, यन्त्रवत् नहीं। जप के समय मालूम होना चाहिये कि मैं भगवान का नाम ले रहा हूँ। अन्यथा वह किसी काम का नहीं होता।

प्रश्न—महाराज, नींद आने से घूम-टहल कर सकते हैं ?

महाराज—घूमने-टहलने से फिर ध्यान नहीं होगा। ध्यान के समय सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पूर्ण आराम में रहती हैं। उस समय उनके द्वारा कोई कर्म ही सम्भव नहीं है क्योंकि मन उनसे अलग रहता है। ऐसी दशा में पादचारण सम्भव नहीं है। अतः अभ्यास से धीरे-धीरे नींद नहीं आयेगी। ये सब साधना के विघ्न हैं। चिन्तन करने से कि पास के घर में सोना पड़ा है। चोर को क्या फिर

नींद आयेगी ? ठाकुर अधिक खट-पट पर जोर नहीं देते लेकिन कहते हैं त्याग के बिना कुछ भी नहीं होगा। एक ही बात में आग लगा देते हैं। त्याग क्या साधारण बात है ? ठाकुर अधिक तर्क-वितर्क की बात नहीं बोलते। एक बार एक व्यक्ति से ठाकुरने कहा, 'देखो यदि विचार करो कि ईश्वर नहीं हैं तो कुछ भी नहीं पाओगे। यदि मैं विचार करूँ कि ईश्वर हैं तो ईश्वर नहीं होने से मैं भी नहीं पाऊँगा। लेकिन होने पर मेरे ईश्वर के पाने की सम्भावना है। परन्तु तुम तो कुछ भी नहीं पाओगे ! तो कौन-सा विचार करना अच्छा है ? ईश्वर हैं या नहीं ?' यह पगला ठाकुर कुछ भी नहीं पढ़े फिर भी कितनी विलक्षण बुद्धि ! न्याय की भाषा। परन्तु वह और भी कहते हैं कि मैंने पढ़ा कुछ नहीं लेकिन सुना बहुत है। अधिक तर्क करने से क्या होगा ? फिर भी ठाकुर कहते हैं [ईश्वर] शुद्ध-बुद्धि द्वारा गोचर हैं। यह सब बातें मैं सहज-भाव से समझा रहा हूँ। तुम लोग यदि किसी पण्डित के पास जाओगे तो वह कुछ और व्याख्या करेगा। एक कथामृत में ही कितनी चीजें पड़ी हुई हैं। पढ़ने से देखोगे सभी प्रश्नों का समाधान पड़ा है !

अन्त में पूज्यपाद महाराज बोले—अरे दिन चला जा रहा है। इतनी Protected life और कहाँ पाओगे ? जीवन को तैयार कर लो न ?

प्रश्न—महाराज, वासना का मूल क्या है ?

महाराज—अपनी अपूर्णता का बोध। जब हम अपूर्णता का अनुभव करते हैं तो उसको पाने की चेष्टा करते हैं। यदि अपूर्णता ही न हो तो क्या चाहूँगा ? तो फिर कोई वासना नहीं रहेगी। ठाकुर कहते हैं ईश्वर-प्रेम होने से वासना दूर हो जाती है।

प्रश्न—महाराज, जब हमलोग घर छोड़कर आते हैं तो वैराग्य बहुत प्रबल होता है। और भगवान को पाने की उत्कण्ठा भी अधिक होती है। लेकिन समय के साथ यह कम क्यों हो जा रहा है ?

महाराज—सभी साधकों के जीवन में ऐसा होता है। ठाकुरजी कहते हैं जब नयी शादी होती है तो वर-वधू में जो नवानुराग होता है वह दीर्घकाल तक नहीं रहता। उसमें अनेक प्रकार की अस्वाभाविकता भी होती है। वह सब दूर होकर स्वाभाविक (natural) प्रेम बच जाता है। उसी प्रकार सभी साधकों के जीवन में चढ़ाई और उतराई होती है। सब समय मन शिखर पर चढ़ा रहेगा ऐसी बात नहीं है। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि मन मरुभूमि के समान नीरस हो गया है। इसका मतलब यह नहीं कि अवनति हो गयी है। यह भी साधक अवस्था की एक दशा है। नीरस लगने पर भी साधना को नहीं छोड़ना चाहिये। धीरे-धीरे सरस हो जायेगी। जब ऐसा प्रतीत होने लगे कि भगवान नहीं मिले और इस कारण मेरी काफी क्षति हो रही है। सब समय यह मन का भाव होने लगे। सब समय मन सोचे कि भगवान नहीं मिले और दुःखी हो तो ठाकुर कहते हैं—कि इसे अरुणोदय समझो। अब सूर्य निकलने में देरी नहीं है। जब तक यह अवस्था नहीं होती तो समझो कि सूर्य निकलने में बहुत देरी है। इसके लिए ठाकुर जी कहते हैं 'हरि नाम् करो मेरे भाई, तेरी बनत-बनत बनि जाई ॥' सब समय लगे रहने से अवश्य ही उसका फल होगा। ठाकुर जी कहते हैं कि एक बूँद आँसू भी भगवान के लिए बहाया है तो वह व्यर्थ नहीं होगा।

प्रश्न—महाराज, भाव के अनुसार अलग-अलग अनुभूति होती है क्या ?

महाराज—कार्य के अनुसार भाव होता है और भाव के अनुसार अनुभूति।

प्रश्न—महाराज कहा गया है कि चाहे किसी भाव से भी क्यों न साधना की जाय, एक ही भगवान की प्राप्ति होती है। तो प्रत्येक की अलग-अलग अनुभूति कैसे हुई ?

महाराज—होने दो न ! पिता रूप भगवान का दर्शन हो अथवा माँ रूप ! है तो भगवान का ही रूप न ? तत्वत: तो भगवान ही हैं न ? साधारण मानव का एक भाव की साधना करते-करते ही जीवन चला जाता है। ठाकुरजी कहते हैं कि चीनी का एक कण खाने से पेट भर जाता है। फिर सब जानने की क्या जरूरत ? ठाकुर जी तो आचार्य थे इसलिए लोकशिक्षा के लिए सभी भाव की साधना की। साधारण व्यक्ति के लिए एक भाव से भगवान लाभ ही पर्याप्त है।

प्रश्न—महाराज, रामकृष्ण लोक का क्या अर्थ है ?

महाराज—रामकृष्ण लोक माने रामकृष्ण एक भाव। रामकृष्णलोक गमन माने रामकृष्ण भाव के साथ युक्त हो जाना और उसका आनन्द पाना। लोक माने पृथ्वी, चन्द्र सूर्य नहीं। चन्द्र पर कोई जीवन ही नहीं रेगिस्तान है। सूर्य पर पहुँचने के बहुत पहले हम ही जलकर भस्म हो जायेंगे। इसलिये यह सब लोक कहने का अर्थ एक-एक प्रकार का भाव।

प्रश्न—महाराज, षट्-दल, अष्ट-दल, द्वादश दल, शतदल, सहस्रदल आदि कमल ये सब जागतिक रूप में मिलते हैं अथवा साधना द्वारा देखे जाते हैं।

महाराज—ये पद्म जागतिक रूप में नहीं होते। न ही कल्पना में भी होते हैं। ये योगी द्वारा गम्य हैं।

प्रश्न—महाराज, ठाकुर जी राजा महाराज को शतदल और स्वामी जी को सहस्त्र दल कमल पर बैठे देखे। तो क्या ये कमल शक्ति के मान-दण्ड हैं ?

महाराज—ठाकुर जी स्वामी जी की विशेषता बताने और उन्हें सबके ऊपर प्रतिष्ठित करने के लिए बहुत कुछ कहते हुए नहीं थकते थे।

प्रश्न—महाराज, क्या खाने के बाद तुरन्त जप करने से हानि होती है ?

महाराज—हाँ, बहुत हानि होती है। इसका वैज्ञानिक कारण सुनो। खाने के बाद पेट की तरफ रक्त संचार बढ़ जाता है और सिर की तरफ कम रहता है। यदि ऐसे समय जप किया जाय तो सिर में रक्त की अल्पता होगी और कार्य करने से मस्तिष्क दुर्बल पड़ जायेगा।

प्रश्न—महाराज ठाकुर जी 'हरि से लगे रहो रे भाई ···' यह भाव पसन्द नहीं करते थे क्यों ?

महाराज—ठाकुर जी भगवान के लिए रोने को कहते हैं। बालक जैसा हाथ-पैर पीटकर रोने लगते हैं। एकदम वास्तविक। थोड़ी भी बनावट नहीं। भगवान के प्रति व्याकुलता का ज्वलन्त उदाहरण ! लेकिन हमलोग क्या उनके लिए रोते हैं ?

प्रश्न—महाराज, स्वामीजी ने कहा है कि रोना स्नायविक दुर्बलता है।

महाराज—स्वामी जी क्या कम रोये हैं ? रोने के अलावा अन्य कोई रास्ता नहीं है। क्या कीसी ने आज तक हँसकर भगवान को पाया है ? सभी को रोना पड़ता है। तब माँ भात की हाँड़ी छोड़ झट बच्चे को गोद में उठाती है। अन्यथा कौन ध्यान देता है ?

प्रश्न—महाराज, संन्यास की अवस्था क्या है ?

महाराज—संन्यास की अवस्था अनिर्वचनीय है—ब्रह्म के समान। इसी अवस्था को व्यक्त करने के लिए गीता में स्थित प्रज्ञ का लक्षण बताया

गया है। हम लोग संन्यासी नहीं है, संन्यासी होने का प्रयास कर रहे हैं। अपने को संन्यासी बोलना अभिमान को व्यक्त करता है। क्योंकि आनुष्ठानिक संन्यास के बावजूद भी हम लोगों में आन्तरिक संन्यास नहीं हुआ है। तो भी 'संन्यास' शब्द का अर्थ dilute रूप में लेकर हम लोग अपने को संन्यासी कहते हैं। वस्तुतः संन्यासी नहीं हैं। संन्यासी होने के प्रयासी हैं।

संन्यासी दो तरह का होता है—एक संन्यास आश्रम, दूसरा ठीक-ठीक आन्तरिक सन्यासी। संन्यास आश्रम संन्यास नहीं है क्योंकि इसमें विधि-निषेध है। जबकि 'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधि को निषेधः।'

कुछ दिनों से मठ में माँ दुर्गा की पूजा हो रही थी। एक व्यक्ति ने प्रश्न किया।

प्रश्न—महाराज, माँ को वस्त्र-आभूषण दिया गया, सर्वाङ्ग सम्पन्न किया गया, प्राणप्रतिष्ठा भी की गयी। और कौन-सी चीज माँ को देनी बाकी रह गयी जिसको देने से माँ हमलोगों की तरह चलने लगतीं?

महाराज—हृदय देने से। हृदय दे दो, माँ चलने लगेगी। लेकिन हृदय कौन देता है? सब चीजें देते हैं, केवल हृदय नहीं देते। तो क्या होगा? ये सब चीजें न देकर केवल हृदय मात्र देने से भी माँ चलेंगी। माँ की ही चीज माँ को देते हो, अपना क्या देते हो? अपना हृदय दे दो, माँ चलेंगी। हमलोग हृदय नहीं दे पाते। इसलिये माँ की चीज ही माँ को देकर अपना चित्त शुद्ध करते हैं। चित्त शुद्ध होने पर माँ को हृदय दे पायेंगे।

ठाकुर मन मुख एक करने की बात कहते हैं। देखने में कहने में बहुत आसान लगती है। लेकिन बहुत कठिन है। हम लोग कहने में कुछ कहते हैं, कार्य में कुछ करते हैं, भाव कुछ और होता है। यह मन मुख एक नहीं हुआ। माँ को सर्वस्व अर्पण करते हैं, सब कुछ अपने पास ही रहता है। यदि मन मुँह एक हो तो सर्वस्व अर्पण के बाद कुछ भी अपना नहीं रहेगा।

प्रश्न—महाराज, हृदय भी तो माँ का ही है?

महाराज—जबतक मैं बुद्धि है तब तक हृदय उनका नहीं है, यह उनसे अलग है। और जब हृदय अपना हो जायेगा, तो फिर दिया नहीं जा सकता। लेकिन जब तक हृदय शुद्ध नहीं है वह माँ का नहीं हो सकता।

प्रश्न—महाराज, जब हम हृदय नहीं दे सकते तो क्या करें?

महाराज—क्या करोगे? बैठे रहने से कुछ भी नहीं होगा। तुम्हें बराबर चेष्टा करनी होगी। धीरे-धीरे चित्त शुद्ध हो जायेगा। तब हृदय दे पाओगे। लेकिन विश्वास चाहिये। ठाकुर जी कहते हैं, 'क्या? तीन बार राम नाम कराया? एक बार राम नाम लेने से कोटि पाप कट जाता है और तुम तीन बार?'

प्रश्न—महाराज, भक्त लोगों के साथ हमारा कैसा बर्ताव होना चाहिये।

महाराज—यह सोचोगे कि वे भी भगवान को पाने का प्रयास कर रहे हैं। अन्तर इतना है कि वे संसार में रहकर प्रयास कर रहे हैं और तुम संसार से बाहर रहकर। समझा? एक भक्त एक ब्रह्मचारी को कुर्सी लाने को बोला तो उसको बात लग गयी कि भक्त उसका अपमान कर रहा है। उसने बाबूराम महाराज को पत्र लिखा तो बाबूराम महाराज ने जबाव दिया—'देखो तुम्हारे ठाकुर तो मान यश के लिये आये नहीं। एक आदमी ने ठाकुर को कहा, "माली, फूल तोड़कर दो।" ठाकुर कुछ न बोलकर फूल तोड़ कर दे

दिया।' यदि वे कहते—क्या···मैं अमुक ? लेकिन कुछ नहीं कहा। और तो और यदि ब्रह्मचारी ने प्रणाम नहीं किया तो साधु सोचते हैं, ऐसी बात ? तुम्हें दूसरों को चाहे बड़े हों या छोटे हो, सम्मान देना चाहिये, चाहे उनसे मान या अपमान ही क्यों न मिले।

प्रश्न—महाराज, शुकुल महाराज (स्वामी आत्मानन्द) कहते हैं कि आसन साधु को बनाता है। इसका क्या तात्पर्य है ?

महाराज—Traditional (परम्परागत) साधु लोगों के बीच एक कहावत है कि साधु को शाम के समय अपने आसन पर आ जाना चाहिये। अर्थात् किस स्थान पर रहते हैं, वहाँ चला आना चाहिये। अर्थात् जहाँ साधना करते हैं वहीं, उसी साधना स्थल पर पहुँच जाना चाहिये।

प्रश्न—महाराज, सुषुप्ति और निर्विकल्प समाधि में क्या अन्तर है ?

महाराज—आकाश-पाताल में जितना अन्तर है। (सभी जोरों से हँसते हैं) सुषुप्ति में मन का लय होता है लेकिन अज्ञान में। सुषुप्ति में बीज (अज्ञान) बचा रहता है। जबकि निर्विकल्प समाधि में भी मन का लय होता है लेकिन इसमें बीज नहीं रहता, अज्ञान नहीं रहता। मन से अज्ञान का आरोप हट जाता है। निर्विकल्प समाधि में मन का लय ज्ञान में होता है।

तीन अवस्थाओं में मन का लय होता है—सुषुप्ति, मूर्च्छा और निर्विकल्प समाधि। सुषुप्ति में मन स्वभावतः अज्ञान में लय होता है। मूर्च्छा में हठात् किसी कारणवश मन अज्ञान में लय हो जाता है। लेकिन निर्विकल्प समाधि बहुत साधना और सत् जीवन यापन के बाद होती है। इसमें मन का लय होता है।

प्रश्न—महाराज L. S. D. की गोली, heroin आदि खाने पर भी मन का लय हो जाता है या मूर्च्छा हो जाती है ?

महाराज—नशीली दवाओं के खाने से मूर्च्छा नहीं होती बल्कि मन विकृत हो जाता है।

मन का सम्पूर्णनाश तो ज्ञान होने पर ही होता है। अद्वैत ज्ञान द्वारा ही मन का सम्पूर्ण नाश होता है। प्रश्न उठता है, मन का सम्पूर्ण नाश होने पर फिर शरीर की क्रिया कैसे चलती है ? तो कहते हैं अद्वैत ज्ञान होने पर अविद्या-लेश रह जाती है। उसी के कारण मन कार्यशील होता है। तो प्रश्न उठता है कि क्या अविद्या सम्पूर्ण रूप से दूर होती ही नहीं ? उत्तर में कहते हैं—फिटकिरी को गंदे पानी में डालने से जल शुद्ध हो जाता है लेकिन फिटकिरी का क्या होता है ? फिटकिरी भी नहीं रह जाती। उसी प्रकार अद्वैत ज्ञान होने पर अविद्या स्वयं नहीं रहती। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जाते हैं। प्रमाणों में भी दोष होता है। फिर पूछा जाता है कि फिटकिरी गलकर जल में मिल गयी। उसका भौतिक रूप बदल गया। नमक समुद्र में जाने पर गल गया उसका आकार बदल गया लेकिन स्वाद के रूप में तो जल में विद्यमान ही है। अतः प्रमाण द्वारा अविद्यालेश को हटाया नहीं जा सकता। तो फिर प्रश्न उठता है कि तब तो अविद्या भी कभी नष्ट नहीं होती ? फिर उत्तर में कहते हैं कि 'प्रत्यक्ष, युक्ति से बलवान होता है।' यह देखा गया है कि अद्वैत ज्ञान होने पर अविद्या नहीं रहती। शंकर (आचार्य शंकर) यह नहीं कहते कि अविद्या का नाश हो जाता है बल्कि अविद्या रहती ही नहीं ? अविद्या मिथ्या है। अतः उसके नाश होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ज्ञान होने पर अविद्या नहीं रहती।

प्रश्न—महाराज चैतन्य शक्ति और प्राणशक्ति में क्या अन्तर है ?

महाराज—शरीर के अन्दर मन-इन्द्रियों में जिससे क्रिया होती है उसे प्राणशक्ति कहते हैं। मन भी एक इन्द्रिय है इसमें जो क्रिया होती है वह प्राणशक्ति के द्वारा ही होती है। मन को देखने अथवा जानने की जो शक्ति है वह चैतन्य शक्ति है। मन तो एक इन्द्रिय है इसके द्वारा Independent रूप से जानने की क्रिया नहीं हो सकती। साक्षी चैतन्य है। इसलिये जानने का कार्य चैतन्य द्वारा ही होता है। अतः जानने की शक्ति चैतन्य शक्ति है।

प्रश्न—महाराज, बुद्धि द्वारा भी तो जाना जाता है ?

महाराज—बुद्धि मन की ही एक वृत्ति है। अतः यह भी इन्द्रिय है। मन-बुद्धि अन्तःकरण की इन्द्रियाँ हैं। बुद्धि के द्वारा जो जानने की क्रिया होती है वह भी चैतन्य शक्ति के द्वारा ही होती है। मन तो नश्वर है अतएव इसके द्वारा जानने की क्रिया नहीं हो सकती।

प्रश्न—महाराज, मन का नाश कब होता है ?

महाराज—तीन अवस्थाओं में मन का function बंद रहता है। वे हैं—सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि। इन तीनों अवस्थाओं में मन का लय हो जाता है अतः हम कह सकते हैं कि इन तीन अवस्थाओं में मन का नाश हो जाता है। Anaesthesia एक artificial मूर्च्छा ही है।

प्रश्न—महाराज सहस्रार में गुरु का ध्यान करने के लिये क्यों कहते हैं ?

महाराज—सहस्रार क्या है जानते हो ?

प्रश्नकर्त्ता—नहीं।

महाराज—इसीलिये मैं, सिर में श्वेत कमल पर गुरु बैठे हैं—ऐसा ध्यान करने को कहता हूँ। कारण सहस्रार योगी लोगों द्वारा ध्यानगम्य है। सहस्रदल पद्म होता है यह कौन जानता है ? केवल योगी लोग ही जान सकते हैं। इसलिये साधारण लोगों के लिये सिर में श्वेत कमल पर बैठे हुए गुरु का ध्यान करने को कहता हूँ। श्वेत पवित्रता का प्रतीक है। और कमल भक्ति का प्रतीक है।

प्रश्न—महाराज, स्वप्न में यदि कोई श्रीकृष्ण को देखे तो क्या उसको भगवान दर्शन हुआ है ?

महाराज—स्वप्न से भगवान श्रीकृष्ण को क्या लेना-देना ? वह तो तुम देखते हो। स्वप्न में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं दिखायी देती जिसे कभी तुमने देखे या सुना न हो। केवल उनका relation (सम्बन्ध) गड़बड़ हो जाता है। जैसे मैंने सोना देखा है और पहाड़ भी। लेकिन स्वप्न में देखता हूँ सोने का पहाड़। केवल सम्बन्ध का उलट-पलट हो गया।

प्रश्न—महाराज, ब्रह्मज्ञान से आनन्द होता है क्या ?

महाराज—कौन बोलता है कि ब्रह्मज्ञान से आनन्द होता है ? ब्रह्मज्ञान तो आनन्द स्वरूप ही है। समाधि में क्या होता है यह जाना नहीं जाता। समाधि से नीचे आने पर उसकी स्मृति बनी रहती है। उससे ही आनन्द होता है।

प्रश्न—महाराज faith और conviction में क्या अन्तर है ?

महाराज—विश्वास होने पर संदेह को थोड़ा-सा स्थान रहता है। लेकिन conviction होने पर संदेह दूर हो जाता है, ज्ञान हो जाता है। विश्वास ही जब दृढ़ हो जाता है तो उसको conviction कहते हैं। बंगला भाषा में इसको दृढ़ विश्वास कहते हैं। यह विश्वास की ही चरम अवस्था है।

प्रश्न—महाराज, राजा महाराज कहते हैं कि भगवान-लाभ होने पर जगत उसके सामने transformed हो जाता है। इसका क्या अर्थ है ?

महाराज—Transformed का अर्थ है कि जगत, जगत के रूप में नहीं बल्कि पूरा जगत भगवान से ओत-प्रोत दिखायी देगा। ओत-प्रोत का मतलब इस प्रकार समझो जैसे कपड़े में सूते का ताना और बाना रहता है। यहाँ कपड़ा सूते से ओत-प्रोत है। तब भगवान ही सर्वत्र दिखायी देता है।

प्रश्न—महाराज, हमलोग भी तो सोचते हैं कि भगवान सर्वव्याप्त है ?

महाराज—नहीं, हम सोचते नहीं कल्पना करते हैं। धीरे-धीरे यही कल्पना परिपक्व होकर दृढ़ हो जाती है। तो हमें सब समय यही अनुभूति होती है कि भगवान सर्वत्र हैं।

प्रश्न—महाराज, क्या सभी कल्पनाएँ सत्य होती हैं ?

महाराज—नहीं, जो कल्पना सत्य विषय के सम्बन्ध में होती है, वही सत्य होती है। भगवान सत्य विषय है अतः उनके विषय में की गयी कल्पना सत्य होगी। असत्य कल्पना उसी प्रकार सत्य नहीं होती जैसे कि घोड़े का अण्डा।

प्रश्न—महाराज हमारा ठाकुर से प्रेम क्यों नहीं होता ?

महाराज—इसलिये कि वे पास नहीं हैं। हम जानते हैं कि उनमें सभी सद्गुण हैं। तो भी प्रेम नहीं कर पाते क्योंकि हम प्रेम गुणों के कारण नहीं बल्कि 'अपना' जानकर प्रेम करते हैं। जब हम ठाकुर को अपनी आत्मा जानेंगे तो उनसे प्रेम करेंगे।

प्रश्न—महाराज, विश्वास और श्रद्धा में क्या अन्तर है ?

महाराज—विश्वास जहाँ है, कोई आवश्यक नहीं है कि वहाँ श्रद्धा भी हो। जैसे मेरा विश्वास है कि अमुक ने एक वस्तु चुरायी है। अब यहाँ विश्वास तो है लेकिन श्रद्धा कहाँ है ? लेकिन जहाँ श्रद्धा होगी वहाँ विश्वास अवश्य होगा।

प्रश्न—महाराज, जप-ध्यान को समय, स्थान और बाह्य प्रकृति किस प्रकार प्रभावित करती है।

महाराज—जप ध्यान के लिये सुबह, शाम अच्छा समय बताया गया है। दोपहर को सन्धि-समय के हिसाब से ले सकते हैं। दोनों साधना के बीच स्मरण करा देता है, जोड़ देता है। ध्यान के लिये महानिशा (अर्द्धरात्रि) सबसे प्रशस्त बतायी गयी है। इन समयों पर प्रकृति शान्त रहती है। विख्यात तीर्थ स्थान में जप-ध्यान अच्छा होता है। पुरी जप के लिये, शक्ति साधना के लिये अनुकूल है। हिमालय ध्यान के लिये अनुकूल है। सागर ध्यान के लिये अनुकूल नहीं होता। खुला मैदान ध्यान के लिये अनुकूल होता है। पर्वत की चोटी पर बैठने से गाम्भीर्य होता है। प्रशान्त नदी के तट पर ध्यान अच्छा होता है। गुफा में ध्यान अच्छा होता है।

भक्ति साधना माने जप होगा साथ-ही-साथ लीला चिन्तन होगा। लेकिन ध्यान के समय केवल इष्ट चिन्तन होगा लीला चिन्तन नहीं।

मन्द-मन्द हवा साधना के अनुकूल होती है तेज हवा नहीं, बहुत गरम भी नहीं। ठंडा मौसम साधना के अनुकूल होता है। आकाश में घने बादल छाये हों तो गाम्भीर्य होता है। लेकिन यदि बिजली चमकती है तो विक्षेप होता है। शुद्धानन्द स्वामी कहते थे—'पंखा चलाकर फुरफुरे हवा में भक्त लोग ध्यान करते हैं। योगी लोग पखा बंद करके ध्यान करते हैं।'

प्रश्न—महाराज यदि बहुत गरम हो, पसीना हो ?

महाराज—तो सहन करेगा।

प्रश्न—महाराज, योगी लोग ध्यान करते हैं तो मूलाधार से लेकर सहस्रार तक चक्र भेदन होता है। इस प्रकार क्रमशः उन्नति दिखायी देती है। क्या ज्ञानी लोगों का भी ऐसा ही कुछ होता है जिससे उनको मालूम हो कि उनकी उन्नति हो रही है?

महाराज—योगी लोग चित्तवृत्ति को, मन को बाह्य वस्तुओं से हटाकर ध्यान करते हैं। श्रोतव्यो-मन्तव्यो-निदिध्यासितव्यो, ज्ञानी लोग ध्यान नहीं करते विचार करते हैं। विचार करते-करते जिस किसी अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचे तो अब उसको विपर्यय शून्य करने की चेष्टा करते हैं।

प्रश्न—महाराज, कैसे मालूम होगा कि उनका निष्कर्ष ठीक है?

महाराज—खुद का (अपना) अनुभव, शास्त्र और ज्ञानी लोगों का मत तीनों यदि मिलता है तो समझेंगे कि निष्कर्ष ठीक है। और विचार करते-करते विपर्यय शून्य हो जायेंगे। जितना ही विपरीत भाव कम होगा उतना ही समझेंगे कि उन्नति हो रही है।

प्रश्न—महाराज, ठाकुरजी दो माली की कहानी कहते हैं। एक बगीचे में अच्छी तरह काम करता है और दूसरा आपकी नाक ऐसी है, आप ऐसे हैं आदि कहकर मालिक की प्रशंसा करता है और काम कुछ नहीं करता···। और दूसरी तरफ कहते हैं—कलिकाल में नाम गुणगान।

महाराज—भगवान का नाम गुणगान या स्तोत्रादि पाठ करना—यह खुशामद करना नहीं है। ऐसा करना उनको याद करना है। भगवान के बहुत से गुण हैं तो उससे हमको क्या? वे तो उनके हैं हमारे नहीं। हमें क्या मिलेगा? मतलब यह है कि उनका गुणगान करते-करते हममें वे गुण धीरे-धीरे आते हैं। हम उन गुणों को अपने अन्दर ग्रहण करते हैं। असल बात यह है कि यह सब करके उनकी निकटता अनुभव करना अथवा उनके पास जाना।

प्रश्न—महाराज, जैसे किसी की प्रशंसा करने से वह खुश होता है। क्या भगवान भी वैसा करते हैं?

महाराज—ना, ना, करके देखो न! (सभी हँसते है)।

प्रश्न—महाराज, शास्त्र पढ़ने से सिद्धान्त पर पहुँच गये तब भी पुनः पढ़ने पर उसका अर्थ नया ही लगता है। तो शास्त्र कितनी बार पढ़ेंगे?

महाराज—'स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्'। जब तक संदेह दूर नहीं होता तब तक स्वाध्याय जारी रखेंगे। पहले स्वाध्याय करते हैं फिर उसका मनन करते हैं। फिर विपर्यय को दूर करने के लिये, संशय को दूर करने के लिये साधना करते हैं।

प्रश्न—महाराज, अपने सहयोगियों और संघ के छोटे सदस्यों से कैसे काम लेना चाहिये? उनके गलत होने पर क्या करना चाहिये?

महाराज—जोर पूर्वक आदेश करके नहीं बल्कि उनको समझा-बुझाकर नम्र भाव से काम लेना चाहिये। यह नहीं कि 'मैं' कहता हूँ यह करो।' विरोध में बोलने से अधिकांश समय उल्टा ही वह react, rebel करेगा। बल्कि शान्त भाव से उसकी भूल उसको समझा देने से वह ठीक समझ जायेगा। इसलिये व्यवहार के समय बहुत सतर्क रहना चाहिये।

प्रश्न—महाराज, संन्यासी को फुफकारने (गुस्सा दिखाने) का भी अधिकार नहीं है या आत्मरक्षा के लिये कर सकते हैं ?

महाराज—संन्यासी फुफकार (गुस्सा) भी नहीं करेगा। लेकिन मुश्किल होता है कि हम आदर्श का ठीक-ठीक पालन नहीं कर पाते तो विभिन्न ढंग से व्याख्या करते हैं। (थोड़ा व्यंग के स्वर में) तुम लोग कहना, 'हमलोग फुफकारते नहीं, अन्दर से ही बाहर हो जाता है।' [सभी जोरों से हँसते हैं।]

प्रश्न—महाराज, Obedience to what extent ?

महाराज—Obedience to whom ?

प्रश्नकर्त्ता—To Sangha.

महाराज—No. Obedience to the ideal. सम्पूर्ण रूप से आदर्श के प्रति obedient होंगे। जहाँ आदर्श के विरुद्ध कुछ भी करने को कहा जाय, नहीं करोगे। चाहे इससे जो भी हो।

प्रश्न—महाराज, कभी-कभी कुछ आदेश दिया जाता है जो मन में लगता है कि आदर्श के विरुद्ध है। तो क्या करें ?

महाराज—किसके मन में लगता है कि अमुक चीज आदर्श के विरुद्ध है ? तुम्हारे ?

प्रश्नकर्त्ता—हाँ, महाराज।

महाराज—तब तो सर्वनाश ! नहीं, जिनका मन शुद्ध है वही निश्चित कर सकते हैं कि क्या आदर्श के अनुकूल है और क्या प्रतिकूल है। तुम्हारे नहीं।

देखो, मुख्य बात है, यदि तुमको कोई झूठ बोलने को कहे तो कभी नहीं बोलना। दूसरी बात है जिससे तुम्हारा चरित्र खराब हो वह भी कभी नहीं करना। किसी प्रकार इनमें समझौता नहीं करना—at any cost no compromise. अन्य बातों में यदि आदर्श का पालन पूर्णतः नहीं कर सकते तो जितना कर सकते हो उतना करना।

प्रश्न—महाराज, राजा महाराज God-mindfulness की बात कहते हैं। इसका क्या मतलब ?

महाराज—जैसे दाँत दर्द करने पर सब समय टनटन (कन-कन) करता है। वैसे ही मन में सब समय भगवान की याद बनी रहती है।

प्रश्न—महाराज—इस अवस्था को पानेवाला आदमी क्या सब समय उनका नाम जपता है अथवा गुणचिन्तन करता है ?

महाराज—ऐसी बात नहीं है। तुम लोग तो जानते नहीं कि एक माँ का मन कैसे उसके बीमार लड़के के यहाँ पड़ा रहता है। सदा उसकी चिन्ता करती रहती है। यदि माँ होते तो जानते। समझो तुम किसी को बहुत प्यार करते हो तो जैसे सब समय उसके बारे में सोचते रहते हो। उसी प्रकार God-mindfullness को समझो।

प्रश्न—महाराज, दाँत दर्द के समय जैसे कार्य अच्छा से नहीं किया जाता वैसे ही यदि दाँत दर्द के समान भगवान का स्मरण करेगा तो कार्य ठीक से नहीं कर पायेगा ?

महाराज—कार्य नहीं हुआ तो क्या हुआ ? कार्य लक्ष्य नहीं है means (साधन) है। एक माँ

बच्चे को नहलाती है, कपड़ा पहनाती है, दूध पिलाती है, खिलाती है—लेकिन सब समय बच्चे का कल्याण चिन्तन करती है। यहाँ वह बहुत-सा कार्य करती है लेकिन कभी भार अनुभव नहीं करती; बल्कि, आनन्द ही पाती है। उसी प्रकार उसी भाव से कार्य करने से भगवान का चिन्तन भी होगा और भार भी नहीं मालूम होगा।

प्रश्न—महाराज, हमलोग प्रचार करते हैं, हमें प्रचार के लिये कहा भी जाता है। लेकिन ठाकुर क्या वैसा करते थे ?

महाराज—ठाकुर नाम-यश नहीं चाहते थे। लेकिन प्रचार करते थे। भगवान के नाम का प्रचार करते थे। खुद के नाम का नहीं।

प्रश्न—महाराज, ठाकुर कहते हैं कि प्रचार करने के लिये 'चपरास' चाहिये।

महाराज—वह तो तुम लोगों के पास है ही।

प्रश्नकर्त्ता—कैसे मालूम ?

महाराज—तुम इस संघ में साधु हुए हो। क्या तुम अपना प्रचार करते हो ? अपने लिये कुछ करते हो ?

प्रश्नकर्त्ता—नहीं।

महाराज—तो फिर ?

प्रश्न—महाराज, भक्त लोग जो हृदय में भगवान का ध्यान मन से करते हैं, उसमें चक्षु अथवा चक्षुरिन्द्रिय का कोई योगदान है क्या ?

महाराज—नहीं, बाह्यचक्षु अथवा चक्षुरिन्द्रिय की कोई उपयोगिता नहीं है।

उदार बनो। ध्यान रखो, जीवन का एकमात्र चिह्न है गति और विकास।

नीतिपरायण बनो, साहसी बनो, धुन के पक्के बनो—तुम्हारे नैतिक चरित्र में कहीं एक धब्बा तक न हो, मृत्यु से भी मुठभेड़ लेने की हिम्मत रखो। धर्म के सिद्धान्तों के बारे में माथापच्ची करने की कोई आवश्यकता नहीं, कायर ही पाप-कर्म करते हैं, साहसी कभी नहीं। हरएक के प्रति प्रेम की भावना लाने का प्रयत्न करो।

—स्वामी विवेकानन्द

श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज से वार्तालाप

—स्वामी निखिलेश्वरानन्द

[स्वामी निखिलेश्वरानन्द, श्रीरामकृष्ण आश्रम, राजकोट से प्रकाशित गुजराती मासिक पत्रिका 'श्रीरामकृष्ण ज्योत' के सम्पादक हैं। उन्होंने श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज, तत्कालीन अध्यक्ष, रामकृष्ण संघ से रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य पर उनके विचार जानने के लिए २५-११-९६ और २६-११-९६ को जो वार्ताएँ कीं उनका सार-संक्षेप यहाँ दिया जा रहा है। स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी सम्प्रति रामकृष्ण मिशन की पोरबन्दर शाखा के सचिव हैं। इन वार्ताओं का हिन्दी रूपान्तर डॉ० केदारनाथ लाभ ने किया है। —सं०]

भाग — १

स्थान : बेलुड़मठ दिनांक २५-११-१९९६

प्रश्न : महाराज, मैंने सुना है कि जब आप रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के अध्यक्ष थे तब आपने गुजरात में रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य के प्रचार-प्रसार में अग्रणी भूमिका निभायी। मैं यह जानने को बहुत उत्सुक हूँ कि आपने यह कार्य कैसे और किस रूप में सम्पन्न किया।

उत्तर : मैंने राजकोट केन्द्र का प्रभार सन् १९४५ ई० में लिया। इसके पूर्व गुजराती में बहुत कम पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं। सस्ता साहित्य के भिक्षु अखण्डानन्द ने श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द पर पुस्तकें प्रकाशित की थीं। इनका अनुवाद श्री हरिशंकर पाण्ड्या ने किया था। जब मैंने राजकोट केन्द्र का प्रभार लिया तब मैंने गुजराती में और अधिक पुस्तकों का प्रकाशन शुरू किया। यह प्रकाशन मुख्यतः अनुवादित पुस्तकों का था। वास्तविक कार्य १९६३ ई० में स्वामी विवेकानन्द की जन्म-शताब्दी के दौरान शुरू हुआ। उस समय सम्पूर्ण देश में बड़े उत्साह का संचार हुआ था और स्वामी विवेकानन्द की जन्म शताब्दी के आयोजनों की बड़े पैमाने पर योजना बनी थी। स्वामी विवेकानन्द पर नियंत्रित मूल्य पर पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए भारत सरकार ने कुछ आर्थिक अनुदान दिया था। हमलोगों ने पुस्तकों के प्रकाशन के माध्यम से स्वामी विवेकानन्द के भावों का प्रसार करने के लिए इस अवसर से लाभ उठाने की बात सोची। हमलोगों ने तीन प्रकार की पुस्तकों की माला प्रकाशित करने को सोचा : (१) बड़े आकार के १२ खण्डों की ग्रंथ-माला (२) मध्यम आकार की पुस्तकों की माला और (३) जेबी आकार की पुस्तिकाओं की माला।

उन दिनों राजकोट आश्रम की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। इसलिए १२ खण्डों में स्वामी विवेकानन्द-ग्रन्थमाला की केवल १००० प्रतियाँ प्रकाशित करने का मैंने विचार किया। (इसका प्रारूप इस प्रकार था—प्रथम खण्ड में श्रीरामकृष्ण की विस्तृत जीवनी, द्वितीय खण्ड में स्वामी विवेकानन्द की जीवनी तथा शेष १० खण्डों में स्वामी विवेकानन्द का ८ खण्डों में प्रकाशित सम्पूर्ण साहित्य का अँग्रेजी से गुजराती में अनुवाद।) श्री रतुभाई अदाणी राजकोट आश्रम की परामर्शदातृ समिति के सदस्य थे। वे गुजरात सरकार के पंचायत मंत्री भी थे। मेरी परियोजना के बारे में सुनने के बाद उन्होंने कहा कि हमें अधिक प्रतियाँ छापनी चाहिए। उन्होंने इन पुस्तकों के प्रकाशनार्थ सरकार से कुछ अनुदान प्राप्त करने के लिए पहल की। इतना ही नहीं, उन्होंने गुजरात सरकार में एक परियोजना भी प्रस्तुत की जिसके तहत कोई पंचायत यदि स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकों का पूरा सेट खरीदती है तो उसे गुजरात सरकार ५०% का अनुदान

देगी। इस परियोजना की घोषणा के उपरान्त अनेक पंचायतें आधी कीमत पर ग्रंथमाला खरीदने को अग्रसर हो गयी। संभवतः प्रत्येक सेट की कीमत ६०/- थी। इसलिए मात्र ३०/- की लागत पर ग्राम पंचायत यह सेट खरीद सकती थी। इस तरह गुजरात के गाँव स्वामी विवेकानन्द साहित्य से आप्लावित हो गये।

पुस्तकों का अनुवाद करने के लिए राजकोट के प्रो० जे० आर० वैद्य से अनुरोध किया गया तथा इस प्रकाशन का सम्पादन करने के लिए ५००/- प्रतिमाह के वेतन पर गुजरात के प्रसिद्ध लेखक श्री रामनारायण पाठक को रख लिया गया। दोनों अपने कार्य के प्रति पूर्णतः समर्पित थे। कुछ अंशों को मूल बंगाली पुस्तकों से मिलाने की जरूरत होती थी, किन्तु वहाँ ऐसा कोई व्यक्ति उपलब्ध नहीं था जो बंगाली और गुजराती दोनों भाषाओं को जानता हो। इसलिए मैंने स्वयं गुजराती सीखी और इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए मुझे स्वयं श्रीराम नारायण पाठक के साथ घंटों बैठना पड़ता था। ये पुस्तकें नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद में छप रही थी, और मुझे इनको छपाने के लिए अहमदाबाद जाना तथा अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था।

ये पुस्तकें काफी लोकप्रिय हुई तथा इस गुजराती ग्रन्थमाला की प्रथम पुस्तक 'श्रीरामकृष्ण की जीवनी' को गुजरात सरकार की ओर से विशिष्ट पुरस्कार प्रदान किया गया। बाद में मैंने सारदा मठ की प्रव्राजिका आत्मप्राणा से स्वामी गम्भीरानन्दजी महाराज द्वारा मूलतः बंगला भाषा में लिखित 'श्री माँ सारदा देवी का जीवन' का अनुवाद करने का अनुरोध किया। मैंने इस ग्रंथ का सम्पादन बेलुड़ मठ में किया क्योंकि तब तक रामकृष्ण संघ का सहायक सचिव होने के लिए राजकोट से मेरा स्थानान्तरण बेलुड़ मठ में कर दिया गया था। गुजराती में स्वामी विवेकानन्द की सम्पूर्ण ग्रन्थमाला का प्रकाशन हो जाने के पश्चात् लोगों ने मुझे इस ग्रन्थमाला का विमोचन करने के लिए एक होटल में पत्रकार सम्मेलन आयोजित करने का सुझाव दिया। मैंने इसे अस्वीकार कर दिया। तब अहमदाबाद में रतुभाई अदाणी के निवास स्थान में यह कार्य सम्पन्न हुआ।

मैं गुजराती में एक पत्रिका का प्रकाशन भी करना चाहता था परन्तु संघ के मुख्यालय ने इसकी आज्ञा नहीं दी।

प्रश्न : महाराज, अब गुजराती में (श्रीरामकृष्ण ज्योत) नामक पत्रिका का प्रकाशन शुरू हो गया है, इससे निश्चय ही आपको प्रसन्नता हो रही होगी।

उत्तर : हाँ, मैं बहुत प्रसन्न हूँ। इस पत्रिका के कारण अब श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के भावों का दूर-दूर तक प्रचार-प्रसार हो रहा है। गुजराती में प्रकाशित पुस्तकों की बिक्री भी काफी बढ़ गयी है।

प्रश्न : महाराज, इस पत्रिका को अधिक उपयोगी बनाने के लिए अपने सुझाव देने की कृपा कीजिए।

उत्तर : इस पत्रिका के लिए तुम विज्ञापन ले सकते हो, लेकिन नियंत्रित रूप से। खासकर ऐसे विज्ञापनों से बचने की चेष्टा करो जो हमलोगों के भावादर्श के अनुरूप नहीं हों।

इस पत्रिका ने प्रचुर रूप से अच्छा कार्य किया है। तुम्हें मुद्रण की भूलों के प्रति अधिक सावधान होना होगा। आजकल सभी पत्रिकाओं में छापे की गलतियाँ होने लगी हैं। हमलोगों को इस सम्बन्ध में विशेष सावधान रहना होगा।

प्रश्न : महाराज, गुजराती साहित्य के प्रभाव के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर : जहाँ तक प्रभाव की बात है, ग्रन्थ-माला (सम्पूर्ण साहित्य) अनेक गाँवों में पहुँच चुकी है, यहाँ तक कि शैक्षणिक संस्थाओं में भी पहुँची है। निश्चय ही इसने अप्रत्यक्ष रूप से गुजरात के विकास में योगदान किया है। जब मैं गुजरात में था, अनेक शिक्षण संस्थाएँ मुझे व्याख्यान आदि देने के लिए आमंत्रित किया करती थीं। यही सिद्ध करता है कि वे लोग स्वामी विवेकानन्द की विचारधारा को जानने में रूचि लेने लगे हैं।

भाग-२

स्थान : बेलुड़मठ दिनांक : २६-११-९६

प्रश्न : महाराज, रामकृष्ण-विवेकानंद साहित्य के विषय में मैं आपके विचार जानना चाहता हूँ। इसके उद्देश्य क्या है, इसका कार्य क्षेत्र या व्याप्ति कहाँ तक है तथा समाज, राष्ट्र और व्यक्ति पर इसका संघात अथवा प्रभाव क्या है ?

उत्तर : जब हम साहित्य की बात करते हैं, तब हमें दो बातों को ध्यान में रखना चाहिए। पहला है 'तथ्य' और दूसरा है 'तत्त्व'। जहाँ तक तथ्य का प्रश्न है, हमें इस विषय में काफी सावधान रहना चाहिए कि हमारे साहित्य में केवल प्रामाणिक विषय-वस्तु ही प्रकाशित हो, और जहाँ तक तत्व की बात है हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि हमारा साहित्य आधार रूप में वेदान्त के साथ रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा का प्रचार करे। और विभिन्न धर्मों के समन्वय की बात को भी हमें ध्यान में रखना चाहिए। हमारे साहित्य का उद्देश्य नव-वेदान्त के भावों का प्रचार करना है।

समझ लो, कि तुम्हें किसी राजनीति में आसक्त नहीं होना है। हमें अपने प्रकाशनों में किसी सम्प्रदाय या पंथ की आलोचना नहीं करनी चाहिए। हमें किसी सम्प्रदाय या पंथ के विषय में किसी प्रकार की टिप्पणी करने से इन्कार कर देना चाहिए। हम अपने प्रकाशन में न तो किसी पंथ की आलोचना करेंगे ना ही किसी की चाप-लूसी या ठकुरसुहाती करेंगे।

प्रश्न : रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य का समाज, देश और व्यक्ति पर, आपकी दृष्टि में, क्या प्रभाव है ?

उत्तर : हमारा आध्यात्मिक संगठन है। हमें अपने को सामाजिक समस्याओं में नहीं उलझाना चाहिए।

हमारे साहित्य के संघात या प्रभाव के सम्बन्ध में कोई मूल्यांकन नहीं हुआ है किन्तु काफी कार्य हुए हैं। पहली महत्वपूर्ण बात यह है कि धर्म-समन्वय के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण के भावों का हमारे साहित्य द्वारा प्रसारण होने के कारण धर्मों में कुछ उदारता आयी है। हमारा साहित्य अनेक लोगों को सान्त्वना प्रदान कर रहा है तथा व्यक्तियों पर पड़े इसके प्रभाव के द्वारा समाज पर भी इसका कुछ प्रभाव पड़ा है।

प्रश्न : महाराज, क्या आप यह नहीं मानते कि 'जीव सेवा के द्वारा ईश्वर-सेवा'—'शिव ज्ञाने जीव सेवा' का श्रीरामकृष्ण द्वारा दिये गये सन्देश ने भी एक व्यापक प्रभाव उत्पन्न किया है ? हम लोग कई संस्थाओं को इन दिनों समाज सेवा में संलग्न देखते हैं।

उत्तर : हाँ, अनेक धार्मिक संगठन मानव की सेवाओं में हाथ लगाने को आगे बढ़ रहें हैं। परन्तु यह कहना कठिन है कि उन सब ने श्रीराम-

कृष्ण के 'शिव भाव से जीव सेवा' के आदर्श को अंगीकार किया है। अनेक संगठनों द्वारा की जाने वाली सेवा के पीछे या तो प्रसिद्धि प्राप्त करना या महज सामाजिक सेवा करना ही आदर्श वाक्य है। जहाँ तक इस विशेष आदर्श-वाक्य 'शिव भाव से जीव सेवा' करने का सम्बन्ध है, अन्य संस्थाओं को हमलोगों से इसे सीखना होगा। हमलोगों को सही भाव से सेवा करते रहना होगा।

□

ध्यान एवं श्रीरामकृष्ण तत्त्वचिन्तन

—श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज
द्वादश महाध्यक्ष,
रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन

(प्रस्तुत लेख पूज्यपाद महाराज जी के साथ किये गये वार्तालाप से संकलित है। संकलनकार हैं स्वामी ऋतानन्द जो सम्प्रति बेलुड़ मठ में कार्यरत हैं।)

...हमलोग ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) का ध्यान करते हैं। ठाकुर के संबंध में विभिन्न लोगों की विभिन्न धारणाएँ हैं। ऐसा होगा ही, क्योंकि उनके अन्दर वैचित्र्य है। हमलोगों के खुद का परिवर्तन जितना होता जाता है, हमलोगों का आदर्श भी उतना ही स्पष्टतर होता जाता है। आदर्श परिवर्तित होता है। जैसे दूर से एक बाड़ा अस्पष्ट रूप से देखता हूँ, मानो एक रूपरेखा मात्र है। परन्तु बाड़े के जितना नजदीक जाता हूँ उतना ही बाड़ा मेरे लिए स्पष्ट से स्पष्टतर होता जाता है।

कई लोग पूछते हैं—'ठाकुर के चित्र की ओर देखने से क्या नहीं होगा? आँखें क्यों बन्द करनी पड़ती है?' इसका कारण है—लगता है हम ठाकुर के चित्र की ओर देख रहे हैं, परन्तु साथ-ही-साथ दूसरी वस्तुओं को भी देखते हैं, नजर इधर-उधर चली जाती है अर्थात् दृष्टि हमेशा एक स्थान पर नहीं रहती है। कई लोग एक बिन्दु पर दृष्टि निबद्ध करने की कोशिश करते हैं, लेकिन दृष्टि एक बिन्दु पर अधिक देर तक स्थिर नहीं रहती है। इसीलिए आँखें बन्द करनी पड़ती है। आँखें बन्द करने पर बाहरी विक्षेप अपने आप अवरुद्ध हो जाते हैं। फिर केवल भीतरी विक्षेपों को दूर करने की चेष्टा करनी पड़ती है। आँखें खुली रहने पर भीतरी एवं बाहरी—दोनों प्रकार के विक्षेप रहते हैं। आँखें बन्द करके ध्यान करने से विक्षेप स्वाभाविक रूप से कम हो जाते हैं (क्योंकि बाहरी विक्षेप दूर हो जाते हैं) तथा ध्यान करते-करते भीतर के विक्षेप भी दूर हो जाते हैं। ध्यान का अर्थ है विपरीत-वृत्ति का निवारण एवं सजातीय-वृत्ति की सन्तति (अर्थात् प्रवाह)। यथार्थ ध्यान में ध्यान, ध्याता एवं ध्येय एक हो जाते हैं। इस समय मन का अस्तित्व नहीं रहता है, क्योंकि मन का अर्थ ही है संकल्प-विकल्प अर्थात् चंचलता। जब मन एकदम स्थिर हो जाता है उस समय मन [का अस्तित्व] नहीं रहता है। इसीलिए कहा जाता है कि ध्याता, ध्यान एवं ध्येय एक हो जाते हैं।

और एक बात है—ध्यान के समय इष्ट की सत्ता की बात याद रखनी चाहिए। जैसे हमलोग ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) के समाधि-चित्र का ध्यान

करते हैं। [समाधि-चित्र] सम्पूर्ण रूप से सब समय [हमारे मानस-पटल पर] नहीं आता है, कभी केवल मुख-मण्डल देखते हैं तो कभी हृदय के ऊपर का कपड़ा देखते हैं। ऐसा करते-करते जब ध्यान गंभीर होगा तब ठाकुर की दृष्टि [सत्ता की] किस गहराई में है, हम समझ पायेंगे अर्थात् उनकी सत्ता की गहराई में हमलोग भी डूब जायँगे। अभी आपात-दृष्टि से ठाकुर के चित्र को देखकर हम समझ नहीं सकेंगे कि उनकी दृष्टि किस गहराई में चली गयी है। लेकिन हमलोगों का ध्यान जितना गंभीर होगा, जितनी गंभीरता से हम चिन्तन करेंगे, उतना ही ठाकुर की सत्ता का परिचय हम प्राप्त करेंगे।

ध्यान एवं जप में कोई विशेष अन्तर नहीं है। वास्तव में दोनों एक ही है। एकाग्र मन से जप करना ध्यान ही है। इसीलिए जप करने के समय ठाकुर की मूर्त्ति का ध्यान करना पड़ता है। हमलोग समझते हैं कि ध्यान का अर्थ है मूर्त्ति-चिन्तन एवं ठाकुर के बैठे हुए चित्र को मानस-पटल पर लाने की कोशिश करते हैं। वास्तव में ध्यान का अर्थ केवल मूर्त्ति-चिन्तन करना नहीं है। ध्यान है तत्त्व-चिन्तन, स्वरूप-चिन्तन। ध्यान के समय ठाकुर के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। स्वरूप-चिन्तन गुण-चिन्तन अथवा लीला-चिन्तन नहीं है। जिनका गुण-चिन्तन अथवा लीला-चिन्तन करते हैं, उनका ही चिन्तन करना तत्त्व-चिन्तन अथवा स्वरूप-चिन्तन है। हमारा मन सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होने पर यह हम समझ सकेंगे। अभी हमारा मन केवल स्थूल वस्तु को ग्रहण कर सकता है। इसीलिए अभी हम गुण-चिन्तन एवं लीला-चिन्तन ही कर सकते हैं। लेकिन मन शुद्ध होन पर सूक्ष्म वस्तु की धारणा कर सकेगा। तभी ठाकुर का तत्त्व-चिन्तन संभव है। जैसे ठाकुर के बैठे हुए ध्यान-मूर्त्ति को ही लो। ठाकुर ने स्वयं कहा है, 'यह अति उच्च योग की अवस्था है।' हमलोग क्या कुछ समझते हैं? क्यों नहीं समझते हैं? क्योंकि अति उच्च योग की अवस्था समझने के लिए हमें भी योगी होना होगा। हमलोग योगी नहीं हैं, इसीलिए उसे हम समझ नहीं सकते हैं। लेकिन गंभीरता से ठाकुर की मूर्त्ति का दर्शन चिन्तन अथवा ध्यान करने पर एक बात समझ में आती है। यद्यपि यह पूरी तरह मेरी व्यक्तिगत धारणा अथवा अनुभव है, मेरी समझ में जो बात आती है वही बोल रहा हूँ और वह है ठाकुर की अन्तर्मुखीनता। दोनों नेत्र मानो लगभग बन्द हैं, जगत् मानो उनमें लीन हो गया है, बाहर का कोई होश नहीं है। कैसी अन्तर्मुखीनता! मानो कहाँ डूब गये हैं। जगत् का कोई होश नहीं है। इस अन्तर्मुखीन अवस्था में ठाकुर क्या सोच रहे हैं अथवा किसमें डूबे हुए हैं—यह ध्यान के समय हमें सोचना चाहिए। अथवा ऐसा सोच सकते हैं कि जो राम रूप से, जो कृष्ण रूप से युग-युग में जगत् के कल्याण के लिए अवतार होकर आये थे, वे ही माया का अवलम्बन करके मनुष्य होकर इस बार श्रीरामकृष्ण रूप में आये हैं। शिव-महिम्न-स्तोत्र में शिव को सम्बोधित कर एक जगह कहा गया है, 'योगी लोग ध्यान में जिस तत्त्व का चिन्तन करते हैं वह तुम ही हो।'

मनः प्रत्यक्चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः।
यदालोक्याह्लाद ह्रद इव निमज्यामृतमये
दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान्॥
(श्लोक संख्या-२५)

अर्थात् यमादि युक्त योगी लोग शास्त्रानुरूप प्राणायाम की सहायता से प्रत्यक् आत्मा में मन को समाहित करके पुलकित वदन से एवं आनन्दाश्रुपूर्ण नेत्र से जिस अन्तर्निहित अनिर्वचनीय तत्त्व दर्शनपूर्वक अमृतमय सरोवर में निमज्जित व्यक्ति की तरह आह्लादित होते रहते हैं, वह निश्चित रूप से तुम ही हो।

…ध्यान के समय गौर करने पर मालूम पड़ता है कि मन के अन्दर सर्वदा चिन्तन का प्रवाह चल रहा है। मन को विचार-शून्य करना दुरूह है। तथा आश्चर्य यह है कि हम इस चिन्तन के प्रवाह के साथ बहते रहते हैं। बहुत देर बाद जब सचेतन होते हैं तब कहते हैं—'क्या उल्टा-सीधा सोच रहा था। मन मुझे जिधर ले जा रहा था मैं भी उसी ओर जा रहा था।' मन की ओर नजर रखने पर, मन को परखने पर मन का स्रोत हमें खींच कर नहीं ले जा सकता है तथा धीरे-धीरे मन पर नियन्त्रण आता है। फिर मन हमारे ऊपर आधिपत्य नहीं कर सकता बल्कि हमलोग मन के ऊपर आधिपत्य कर सकते हैं। मन का एक और वैचित्र्य है जिसके बारे में मैं बहुत सोच-विचार किया करता हूँ। और वह है —एक ही मन का दो भागों में विभक्त होना। एक द्रष्टा और दूसरा दृश्य। अर्थात् एक द्रष्टा-मन और दूसरा दृश्य-मन। द्रष्टा-मन जब दृश्य-मन को परखता है तब मन के चिन्तन के साथ हमलोगों के बह जाने की संभावना नहीं रहती है। इसीलिए स्वामीजी ने कहा है, "आसन पर बैठते ही ध्यान शुरू मत करना। मन के ऊपर कुछ देर दृष्टि रखो। मन क्या कर रहा है, गौर करो। देखना, धीरे-धीरे मन का दौड़-धूप बन्द हो आयेगा। मन एकाग्र होगा। इसके बाद ध्यान करना होगा।" इसीलिए कह रहा था कि मन को विचार शून्य करना अत्यन्त कठिन है। कई लोगों की धारणा है कि चिन्तन को एकदम रोक देने पर मनुष्य तो जड़ हो जायेगा। नहीं, मनुष्य कभी भी जड़ नहीं हो सकता। चिन्तन को रोक देने पर अथवा मन को वृत्ति-शून्य करने पर समाधि होगी। तीन अवस्थाओं में मन कार्य नहीं करता है—मूर्छा, सुषुप्ति एवं समाधि। सुषुप्ति में मन कार्य करना बन्द करता है स्वाभाविक रूप से, मूर्छा में अस्वाभाविक रूप से तथा समाधि में साधना के द्वारा।

…ध्यान एवं निदिध्यासन एक नहीं है। ध्यान है विजातीय वृत्ति का दूरीकरण तथा सजातीय वृत्ति की सन्तति अथवा प्रवाह। निदिध्यासन है वृत्तिरहित अवस्था, शान्त अवस्था। मुण्डकोपनिषद् में है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रयत्तेन वेद्धव्यं शश्वत्तन्मयो भवेत्॥
(मु० उ० २/२/४)

'प्रणवो धनुःशरो आत्मा'—आत्मा का अर्थ यहाँ जीवात्मा है। 'ब्रह्म तद् लक्ष्यम् उच्यते'—ब्रह्म ही लक्ष्य है। 'अप्रमत्तेन वेद्धव्य'—अप्रमत्त होकर उसका वेधन करना होगा। 'अप्रमत्तेन'—यही ध्यान है तथा 'शश्वत् तन्मयो भवेत्'—उस ब्रह्म का वेधन करके उसमें स्थिति वही निदिध्यासन है। वहाँ भी सावधान रहना पड़ता है। इसीलिए कहा है 'शश्वत् तन्मयो'; वहाँ एकदम दृढ़ रूप से अवस्थान करना, स्खलन अथवा विच्युति का कोई कारण नहीं रहना।

…महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्दजी) ने एक जगह कहा है, 'चाँद की रोशनी में ध्यान नहीं करना चाहिए।' क्योंकि चाँद की रोशनी में मन के अन्दर दूसरे प्रकार के भाव की सृष्टि होती है, विलासिता का भाव आता है। ध्यान के लिए खुला मैदान, पर्वत, नदी का किनारा आदि प्रशस्त है। समुद्रतट प्रशस्त नहीं है। जहाँ बहुत हवा चलती हो तथा एकदम हवा रहित स्थान ध्यान के अनुकूल नहीं है। ध्यान के लिए गुफा अनुकूल है। 'इसीलिए योगी लोग ध्यान लगाते हैं गुहा गिरिवासी होकर।' राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) ने कहा है—'एक-एक स्थान एक-एक समय ध्यान के अनुकूल होता है।' फिर स्थान माहात्म्य है। ऊँचा पर्वत ध्यान का स्थान है। मैंने देखा है, जगन्नाथ पुरी भजन-कीर्तन के लिए

अनुकूल स्थान है, ध्यान का स्थान नहीं है। वहाँ भजन-कीर्तन का भाव आता है।

…ध्यान एवं कल्पना के बीच अन्तर है। कल्पना है अवास्तव विषय का चिन्तन करना, जो विषय वास्तव में नहीं है और ध्यान में जिस विषय का चिन्तन किया जाता है उसके अस्तित्व में हम विश्वास करते हैं। हम विश्वास करते हैं कि हमलोगों के ध्यान की वस्तु का अस्तित्व है। यद्यपि अभी हमलोग कल्पना की सहायता से ध्यान करने की कोशिश करते हैं, फिर भी वह एकदम से कल्पना नहीं है। अवास्तव वस्तु अर्थात् जिसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है उसका चिन्तन कल्पना है; जैसे आसमान में बगीचे की कल्पना करना। इसका (आसमान में बगीचे का) वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है, यह कोरी कल्पना मात्र है। आसमान में बगीचा रहना संभव नहीं है। लेकिन ध्यान के विषय-वस्तु के अस्तित्व में हम अविश्वास नहीं करते हैं।

…ध्यान के समय यह देखने में आता है कि नींद लगती है। यह एक बड़ा दुश्मन है; योग का विघ्न है। नींद आने पर पानी से आँखों को धोकर ध्यान के लिए बैठ सकते हैं। यह कुछ समय तक कार्य करता है। नींद आने का कारण है : मन जिस विषयों में साधारणतः विचरण करता है ध्यान के समय मन को उन विषयों से हटा लिया जाता है, किन्तु मन को उन वस्तुओं से हटाकर ध्येय वस्तु पर लगाकर नहीं रख पाने पर मन अवलम्बनहीन होकर सो जाता है। इसको दूर करने का उपाय है : सर्वदा सजाग तक सतर्क रहने की कोशिश करना। ध्यान करने के लिए बैठने पर जो नींद आ जाती है यह तमोगुण के प्रभाव से होता है। दो कारणों से यह होता है। प्रथमतः शारीरिक क्लान्ति अथवा अवसाद तथा द्वितीयतः ध्यान-जप में आग्रह का अभाव। पहला कारण अर्थात् शरीर क्लान्त अथवा अवसन्न होने पर उपयुक्त अथवा प्रयोजनीय विश्राम करने की आवश्यकता है। शरीर के लिए जितने विश्राम अथवा नींद की जरूरत है उतना लेना होगा; बल्कि नींद से थोड़ा देरी करने पर यदि अच्छा ध्यान हो अर्थात् शरीर में क्लान्ति न रहे तो वही करना अच्छा है। किन्तु यह विषय प्रत्येक व्यक्ति के शरीर एवं मन के गठन के ऊपर निर्भर करता है। जिसके लिए जो सुविधाजनक मालूम हो वही करना चाहिए। द्वितीयतः आग्रह का नहीं होना। आग्रह नहीं होने पर मन सो जाता है। ध्यान-जप में आग्रह न होने का कारण है उद्देश्य के सम्बन्ध में हम सचेतन नहीं हैं और इसके फलस्वरूप जप-ध्यान में रुचि नहीं होती है। इसीलिए मन सो जाता है। जिस विषय का ध्यान करते हैं उसके प्रति यदि (आकर्षण की) तीव्रता अधिक हो, उसको प्राप्त करने की आकांक्षा खूब दृढ़ हो तो क्या हम असतर्क हो सकते हैं? जैसा कि ठाकुर ने कहा है : बगल के कमरे में मणिमुक्ता छिपा हुआ है—यह बात जानकर चोर क्या इस कमरे में निश्चिन्त होकर सो सकता है? नहीं, नहीं सो सकता है। जब तक वह सिंध मारकर बगल के कमरे में प्रवेश नहीं करता है तथा मणि-मुक्ता प्राप्त नहीं करता है तब तक उसकी निश्चिन्तता नहीं है। उसी तरह यदि हम जानें कि हमलोगों के हृदय में ईश्वर हैं, उनकी प्राप्ति हमें करनी ही होगी, तो क्या हम असतर्क हो सकते हैं? सो सकते हैं? व्याकुलता के अभाव से ही ऐसा होता है। इसीलिए सदा सर्वदा सतर्क एवं सजाग रहने की चेष्टा करनी चाहिए। चेष्टा करने से अभ्यास हो जाता है, संस्कार बन जाता है। नींद लगने पर हमलोग भी थोड़ा टहलकर पुनः [जप-ध्यान के लिए] बैठते थे। कई लोग पूछते हैं, "नींद आने पर चहल-कदमी करते हुए जप करने से क्या नहीं होगा?" [इसका उत्तर है :] हो सकता है,

उससे केवल नींद को भगा सकते हैं परन्तु ध्यान तो होगा नहीं। ध्यान में सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य से विरत रहेंगी तथा केवल मन ध्येय वस्तु के साथ लगा रहेगा। अतएव चहल-कदमी करने पर ध्यान तो हुआ नहीं।

…असली बात यह है कि चाहे जितनी ही देर हमलोग ध्यान क्यों न करें उसे भाव के साथ करने की कोशिश करनी होगी। भाव ही असल है। भाव के साथ करने पर जितनी ही देर क्यों न करें उससे लाभ होगा। मन शान्त नहीं होने पर अपने आप की परीक्षा करना संभव नहीं है, मन का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। कठोपनिषद् में कहा गया है—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीका धैर्येण।
तं विद्याच्छुक्रममृतं त विद्याच्छुक्रममृतमिति॥
(क० उ० २/३/१७)

मूँज से सींक को यदि अलग करना हो तो उसे अचानक खींचने पर टूट जायेगा। खूब सावधानीपूर्वक धीरे-धीरे सींक को मूँज से अलग करना पड़ता है। उसी तरह खूब धैर्य के साथ आत्मा को देहादि अनात्मा से अलग करना पड़ता है। यहाँ आत्मा को अलग करने की बात कही गयी है। उसी तरह हमलोग ध्यान के समय मन को जिसमें निविष्ट करना चाहते हैं उसको छोड़कर बाकी सब कुछ से मन को अलग करके इष्ट विषय पर नियोग करनी चाहिए। गीता में है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धयाधृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपिचिन्तयेत्॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततास्ततो नियम्यतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(६.२५-२६)

'शनैः शनैः' यानि खूब धीरे-धीरे। 'शनैः शनैः' कहा गया है क्योंकि समाधि की चेष्टा कर रहे हैं। जिस अवस्था को प्राप्त करना चाहते हैं उसके लिए मन को तो शान्त करना ही होगा, ध्यान करने के लिए मन को शान्त करना ही होगा। मन शान्त होने पर जीवन के ऊपर उसका प्रभाव पड़ेगा। चलना, बोलना सब शान्त होगा। जीवन में शान्त भाव आयेगा, चरित्र में मृदुभाव आयेगा। हड़बड़ करने से नहीं होगा। जो लोग कीर्तन करते हैं वे लोग मृदंग एवं मँजीरा लेकर खूब नाचना-गाना एवं उछल-कूद करते हैं। लेकिन ध्यानी को यह अवस्था अच्छी नहीं लगती है। ठाकुर के जीवन में दोनों ही [भाव] दिखाई पड़ते हैं। जब नृत्य करते हैं तो कैसा अद्भुत नृत्य! जो साथ में नाचते हैं अथवा गाते हैं केवल वे ही नहीं, बल्कि जो सुन रहे हैं वे भी मानो पसीज जाते हैं। फिर एक समय कहते हैं, "अभी शोर-गुल पसंद नहीं आता" अर्थात् शान्त भाव। सभी भावों की पराकाष्ठा दिखानी थी, इसीलिए उन्होंने दोनों ही [भाव] दिखाए हैं।

…योग के विघ्नों में से एक है 'लय'। माण्डूक्य-कारिका में है—

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः।
सकषायं विजानीयात् समप्राप्तं न चालयेत्॥
(३.४४)

'लय' का असली अर्थ है—ध्यान करते-करते अचानक साधक के मन के सामने से ध्येय वस्तु का हट जाना। मन जगा रहता है, किन्तु ध्येय वस्तु नहीं रहता है। तब साधक को पुनः सम्बुद्ध मन के सामने ध्येय वस्तु को लाने की चेष्टा करनी पड़ती है। तथा हम जैसे साधारण लोगों के लिए 'लय' का मतलब है नींद। मन सो जाता है। उसे जगाकर रखने की चेष्टा करनी पड़ती है। इसके बाद है विक्षेप। यह सभी को होता है।

[शेष पृष्ठ ९६ पर]

गुरुतत्त्व

☐ स्वामी भूतेशानन्द

(गुरुतत्त्व के विषय में समाज में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई है। संघ के पिछले अध्यक्ष ब्रह्मलीन श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने अपने अन्तिम लेख में इस विषय पर प्रकाश डाला है। बंगला मासिक 'उद्बोधन' के जुलाई ९८ अंक से ब्रह्मचारी सुधीरचैतन्य ने इसका हिन्दी में अनुवाद किया है।)

गुरुपूर्णिमा के पावन अवसर पर भक्त लोग अपने-अपने गुरुओं को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। गुरुपूर्णिमा को व्यास-पूर्णिमा भी कहते हैं। क्योंकि इसी तिथि पर व्यासदेव ने जन्म ग्रहण किया था। उत्तराखण्ड में मैंने देखा कि इस दिन प्रत्येक साधु दूसरे साधुओं की गुरु रूप में पूजा करते हैं। बंगाल में इसका प्रचलन नहीं था, परन्तु आजकल देश में सर्वत्र गुरुपूर्णिमा बड़े उत्साह के साथ मनायी जाती है।

प्रश्न उठता है कि व्यासदेव की जन्मतिथि को गुरुपूर्णिमा क्यों कहा गया? संक्षेप में कहें तो वेदव्यास ने महाभारत के माध्यम से उपनिषदों के गहन-तत्त्व आम जनता के लिए सहज रूप में प्रस्तुत किये, इसीलिये वे गुरु रूप में पूजे जाते हैं। वेदों का विभाजन करने के कारण वे वेदव्यास के नाम से विख्यात हुए। फिर उन्होंने उपनिषदों के मूल-तत्त्वों को शृंखलाबद्ध करके ब्रह्मसूत्र की रचना भी की। अठारह पुराण उन्हीं के द्वारा रचित कहे जाते हैं। गीता महाभारत एक अंश है, जिसमें सभी शास्त्रों के मूल-तत्त्व सहज रूप से प्रस्तुत किये गये हैं। इनके अलावा एक संहिताग्रंथ भी है, जिसके रचयिता व्यासदेव कहे जाते हैं, जिसमें हिन्दुओं के आचार-व्यवहार-पद्धति का उल्लेख है। उन्नीस संहिताओं में 'व्यास-संहिता' भी एक है।

गुरुगीता में 'गुरु' शब्द के अर्थ की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

गुशब्दश्चान्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते ॥ २०

'गु' शब्द का अर्थ है अन्धकार और 'रू' का अर्थ है निरोधक। जो अन्धकार या अज्ञान को दूर कर देते हैं, उन्हें 'गुरु' कहा जाता है। स्मृति में भी लिखा है—

स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति।
उपनीय ददद्वेदमाचार्य्यः स उदाहृतः ॥
एकदेशमुपाध्याय ऋत्विग् यज्ञकृदुच्यते।
एते मान्या यथापूर्वमेभ्यो माता गरीयसी ॥
(याज्ञव. संहिता १/३४-३५)

गर्भाधान से उपनयन तक संस्कार कराकर जो वेदाध्यन कराते हैं, वे 'गुरु' अर्थात् पिता है; जो केवल उपनयन संस्कार कराकर वेदपाठ कराते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं; जो वेद के किसी अंश का पाठ कराते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं और जो यज्ञ में सहायक होते हैं, उन्हें ऋत्विक् या आधुनिक भाषा में पुरोहित कहते हैं। इसी क्रम से ये सम्मान के भी अधिकारी होते हैं। और इनमें श्रेष्ठ स्थान माँ को दिया गया है। माँ से ही सन्तान की शिक्षा आरम्भ होती है, अतः वे ही श्रेष्ठ गुरु हैं।

तंत्र-मत के अनुसार तो साधना करानेवाले को तांत्रिक-गुरु और पौराणिक पद्धति से साधना की शिक्षा देनेवाले को पौराणिक-गुरु कहते हैं। आगे चलकर ये ही वंशानुक्रम से गुरुपद पर प्रतिष्ठित हुए और ऐसी प्रथा बन गयी कि कुलगुरु को छोड़ अन्य किसी को गुरु नहीं बनाया जा सकता। इसका भला पक्ष भी है और बुरा भी। भला यह है कि जो लोग वंशपरम्परा से गुरु होते हैं, वे शिष्य की भी वंशपरम्परा से परिचित होते हैं। अतः शिष्य की योग्यतानुसार शिक्षा देना उनके लिए सहज हो जाता है। फिर इस प्रथा में एक दोष यह है कि अयोग्य व्यक्ति भी परम्परागत गुरुपद पर आसीन हो जाते हैं।

गुरुस्तोत्र में गुरु उन्हें कहा गया है, जिन्होंने व्यक्ति के अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छन्न नेत्रों को ज्ञानरूपी शलाका से उन्मीलित कर दिया है--

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।। (३)

फिर 'श्रेष्ठ' अर्थ में गुरु शब्द का उपयोग किया गया है। व्यावहारिक जीवन की भाँति ही आध्यात्मिक जीवन में भी गुरु की विशेष आवश्यकता है। जीवन को अध्यात्म-मार्ग पर चलाने के लिए एक जानकर पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता होती है और ये पथ-प्रदर्शक ही गुरु हैं। शिक्षणीय विषयानुसार गुरु का चयन करना चाहिए। यथा, यदि 'ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति' हमारा उद्देश्य है, तो हमें ब्रह्मज्ञानी गुरु की ही शरण लेनी होगी। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।। (१/२/१२)

गुरु कैसे हों—'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम'—शास्त्र के ज्ञाता और ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हों। शिष्य को गुरु के समीप किस प्रकार जाना चाहिए? 'समित्पाणिः' अर्थात् गुरु की सेवा के लिए योग्य उपकरण आदि तथा सेवा का भाव लेकर गुरु के समीप जाना चाहिए। पुराण एवं उपनिषदों में विभिन्न स्थानों पर उल्लेखित है कि किसी विद्या को ठीक-ठीक जानने के लिए उस विद्या के जानकार व्यक्ति के पास जाना चाहिए और विशेषकर अध्यात्म-विद्या के सम्बन्ध में निर्देश है कि जो संसार के दुःखानल से पीड़ित है, उसे इसकी निवृत्ति हेतु गुरु के पास जाकर निष्ठापूर्वक सदुपदेश के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। विवेक-चूड़ामणि में कहा गया है—

कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं का वा गतिर्मे
कतमोऽस्त्युपायः।
जाने न किञ्चित् कृपयाऽव मां प्रभो
संसारदुःखक्षतिमातनुष्व ।। (४०)

हे प्रभो, किस उपाय से हम इस संसार-समुद्र को पार करेंगे? हमारा प्रकृत आश्रय कहाँ है? और मैं कौन-सी साधना-पद्धति अपनाऊँ? यह सब मैं कुछ नहीं जानता। कृपया मेरी रक्षा कीजिए और संसार दुःख के क्षय का उपाय बता दीजिए।

ये दुःख जब मनुष्य के मन को कष्ट देते हैं, तभी मनुष्य स्वयं को गुरु के चरणों में समर्पित करता है तथा गुरु भी कृपा करके उसे आश्वस्त करते हुए इस भवसागर से पार होने के उपायों का उपदेश देते हुए उसके अज्ञान-अन्धकार को दूर कर देते हैं। शिष्य को वे दो प्रकार की पद्धतियों से शिक्षा दे सकते हैं। पहली है—आत्म केन्द्रित विचार और दूसरी है—जगत केन्द्रित विचार। पहली Subjective है और दूसरी Objective। Subjective या आत्मकेन्द्रित अर्थात् 'मैं कौन हूँ मेरा स्वरूप क्या है?' इस तरह विचार करना। जो 'मैं' परिबर्तनशील है, वह वास्तविक 'मैं' नहीं है, नहीं तो हम परिबर्तन के ज्ञाता नहीं हो पाते। परिवर्तन का ज्ञाता होने के लिये हमें सत्ता-परिवर्तन से भिन्न, अपरिणामी होना होगा। इस परिवर्तन के पीछे जो अपरिवर्तनशील वस्तु है, जो समस्त परिवर्तनों का ज्ञाता है, उसे विचार के द्वारा पकडना होगा। तब धीरे-धीरे हमारे स्वरूप पर आरोपित सत्ताएँ हट जायेंगी और एकमात्र शुद्ध 'मैं' अवशिष्ट रह जायेगा और या जगत-केन्द्रित विचार होगा—दृश्यमान जगत का स्वरूप क्या है? विचार करना है कि हम इन्द्रियों के द्वारा जिस जगत का अनुभव करते हैं, उसकी सीमा कितनी दूर तक है? वस्तुओं को इन्द्रियों के द्वारा जाना जा सकता है। परन्तु इन्द्रियों को कैसे जानोगे?

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।
(केनोपनिषद १/६)

मन के द्वारा जब हम किसी परिवर्तनशील वस्तु को जानते हैं, तब उसके कारण को खोजना

होगा। क्योंकि परिवर्तनशील के पीछे अपरिवर्तनशील सत्ता न रहे तो परिवर्तनशील को नहीं जान सकते। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ आदि बदलते हुए अनुभवों के पीछे यदि एक अपरिवर्तनशील सत्ता न न हो, तो ये परिवर्तनशील अनुभव नहीं होंगे। अपरिवर्तनशील ज्ञानस्वरूप के द्वारा ही ये परिवर्तन प्रकाशित होते हैं। विषयों का ज्ञाता विषयों से भिन्न होगा। अतः इनके पीछे एक ज्ञान या अपरिणामी अर्थात् उत्पत्ति-विनाश-रहित सत्ता का रहना अनिवार्य है। यह ज्ञान स्वप्रकाश है। क्योंकि विषय को ज्ञान के द्वारा ही जाना जाता है। परन्तु ज्ञान को हम किसके द्वारा जानेंगे ? ज्ञान स्वप्रकाश है, उसे जानने हेतु किसी अन्य ज्ञाता की अपेक्षा नहीं होती।

जगत पर विचार करते हुए हमें वस्तु तक पहुँचना होगा। जगत का अर्थ है—इन्द्रियग्राह्य विषय। उनका अनुभव करने से हम देखगे कि उनके भीतर निहित उपादानों के समन्वय से ही वस्तुओं की उत्पत्ति हो रही है। इन समन्वयों को कैसे जानेंगे ? बुद्धि के द्वारा। बुद्धि को कैसे जानगे आत्मा के द्वारा। और यह आत्मा स्वप्रकाश है। इस प्रकार विचार करके आत्मा तक पहुँचा जा सकता है।

जैसे सच्चे गुरु में कुछ विशेष गुण रहना आवश्यक है, वैसे ही शिष्य में भी कुछ विशेष गुण होना आवश्यक है। तभी गुरु के निर्देश सार्थक होंगे। वे गुण हैं—पवित्रता, गुरु के प्रति श्रद्धा और उनकी वाणी में विश्वास।

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥
(विवेक-चूड़ामणि, ३)

संसार में ये तीन चीजें दुर्लभ हैं और देवकृपा से ही इनकी प्राप्ति होती है—पहला है मनुष्य-जन्म, दूसरा मुमुक्षुत्व या मुक्ति की इच्छा और तीसरा है महापुरुषों का संग। प्रथमतः, शास्त्रों के मतानुसार मनुष्य-जन्म दुर्लभ है—'जन्तूनां नरजन्म दुर्लभम्।' (वही, २)। अनेक जन्मों या योनियों से गुजरने के पश्चात ही मनुष्य-योनि की प्राप्ति होती है। और फिर मनुष्य-जन्म प्राप्त करके भी सब में तत्त्व को जानने का आग्रह नहीं होता, मुक्ति की आकांक्षा नहीं होती। मुक्ति की आकांक्षा यदि रहे तो कुछ प्रगति हुई। तत्पश्चात् महापुरुष के साथ योग। महापुरुष या उत्तम गुरु वे हैं, जो मुक्ति का रास्ता बता सकें। महापुरुष-संग का तात्पर्य उनके साथ रहना मात्र नहीं, बल्कि उनके भावों को धारण करने का प्रयत्न करना है। लीलाप्रसंग में लिखा है, "श्रीरामकृष्ण जब दक्षिणेश्वर में थे तब दक्षिणेश्वर के आसपास के लोगों ने ठाकुर का कितना संग किया। इसके अलावा कालीबाड़ी के कर्मचारी भी तो सर्वदा उन्हें देखते थे, परन्तु उनमें से किसी के भी जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आया।"

अतः 'संग' का अर्थ केवल समीप रहना नहीं, बल्कि उनके भावों को हृदय से ग्रहण करने का आग्रह तथा ग्रहण करने की सामर्थ्य होनी चाहिए, अन्यथा कुछ भी न होगा। इसलिए उसे 'साधन-चतुष्टय-सम्पन्न' तथा 'श्रद्धा' अर्थात् आस्तिक्य-बुद्धि से युक्त होना होगा। 'वेदान्तसार' (६) में अधिकारी के लक्षण बताते हुए कहा गया है—अधिकारी तु विधिवदधीत वेदवेदाङ्गत्वेन आपाततः अधिगताखिल-वेदार्थः अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता जो यथानियम वेद-वेदान्त का अध्ययन करता है, उनके सामान्य तात्पर्य से परिचित है, जन्म-जन्मान्तर में काम्य तथा शास्त्र-निषिद्ध कर्मों का परित्याग और नित्य-नैमित्तिक तथा प्रायश्चित कर्मों का अनुष्ठान करके निष्पाप तथा शुद्धचित हो गया है, ऐसा साधन-चतुष्टय-सम्पन्न व्यक्ति ही शिष्य होने का सच्चा अधिकारी है।

गुरु किसको ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं ? आचार्य शंकर बताते हैं—

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च
प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे ।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्
सततं मुमुक्षवे ॥ (उपदेश. प्रा० ७२)

जो प्रशान्त चित्तवाला है, जितेन्द्रिय है, काम-क्रोधादि दोषों से मुक्त और एकान्तप्रिय हो, ऐसे मुमुक्षु व्यक्ति को ही गुरु ब्रह्मविद्या प्रदान करेंगे।

प्रश्न उठता है कि गुरु कैसे हों ? उनमें क्या गुण हों ? प्रधान गुण यह है कि वे शास्त्रज्ञ एवं ब्रह्मनिष्ठ हों। उनका आचरण शास्त्रसम्मत हो। वे स्वार्थबुद्धि रहित होकर, शिष्य के प्रति करुणा-द्रवित हो उसे अज्ञान समुद्र से उद्धार का उपदेश देंगे। 'श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ'— इन दो गुणों के विषय में कहा गया है कि यदि शास्त्रज्ञान नहीं है, तो वे वास्तविक ज्ञान को नहीं समझ सकते और यदि ब्रह्मनिष्ठ नहीं हैं, तो संशय दूर नहीं होगा। व्यावहारिक-जीवन के गुरु तथा आध्यात्मिक-जीवन के गुरु में यही भेद है। व्यावहारिक जीवन में गुरु के चरित्र या जीवन पर विचार न करने से भी चलता है। यदि वे अपनी ज्ञात विद्या को समझा सकें, इतना ही पर्याप्त है। परन्तु आध्यात्मिक जीवन में गुरु को 'श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो'— शास्त्रज्ञ, निष्पाप, कामगन्धशून्य तथा स्वार्थबुद्धि रहित होना होगा। (वि. चू. ३३) ऐसे व्यक्ति ही सच्चे गुरु या सद्गुरु हो सकते हैं। पवित्रता ही आध्यात्मिक जीवन का प्रधान गुण है।

जिनसे साधना-पथ पर चलने में सहायता प्राप्त हो, उन्हें ही गुरु कहा जाता है। तो ब्रह्मज्ञ गुरु और साधारण गुरु क्या एक ही उद्देश्य की सिद्धि करते हैं ? नहीं, ऐसा नहीं है। जो हृदय में रहकर सबको प्रेरणा दे रहे हैं, वे हीं असली गरु हैं।

गुरुब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
(गुरुगीता, २६)

यहाँ गुरु शब्द का अर्थ यह है कि ईश्वर ही गुरु हैं। जैसा कि श्रीरामकृष्णदेव कहते थे, 'सच्चिदानन्द ही गुरु के रूप में आते हैं। मनुष्य-गुरु से यदि कोई दीक्षा लेता है, तो उन्हें मनुष्य मानने से कुछ नहीं होगा। उन्हें साक्षात ईश्वर समझना होगा, तभी तो मंत्र पर विश्वास होगा।'' हम इष्ट के प्रति जैसी भक्ति करते हैं, गरु के प्रति भी वैसी ही भक्ति करनी होगी। उपनिषद में कहा गया है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥
(श्वेताश्वतर, ६/२३)

जिसकी देवता के प्रति परा भक्ति है एवं गुरु के प्रति भी वैसी ही भक्ति है, उसके समक्ष तत्त्व यथार्थ रूप से प्रकट होता है।

सामान्यतः हम इष्ट की ठीक धारणा नहीं कर पाते, इसीलिए बाह्य गुरु की सहायता से इष्टगुरु की खोज में अग्रसर होते हैं। गुरु समझते हैं कि शिष्य को किस तथ पर परिचालित करना होगा तथा उसे किस लक्ष्य तक पहुँचाना होगा। इसीलिए सहायक के रूप में गुरु की जरूरत होती है। ठाकुर के शिष्यगुण कहते थे, "एक बार गुरु चुन लेने के बाद उन्हें प्राणपण से अपना लेना चाहिए, उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा-विश्वास रखना चाहिए, नहीं तो स्थिर नहीं, चंचल तथा संशयग्रस्त होगा।

बन्धन का अनुभव हुए बिना मुक्ति की आकांक्षा ही नहीं होती। अतः बन्धन का अनुभव आवश्यक है। जगत में अधिकांश लोगों को इसका अनुभव नहीं होता। गीता में भगवान कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥
(७/३)

हजारों में कोई दो-एक व्यक्ति ही मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं। और ऐसे हजारों जिज्ञासुओं में भी कोई भाग्यवश ही उस परम तत्त्व को जान पाते हैं।

आम तौर पर लोग सांसारिक सुख-समृद्धि चाहते हैं। भगवान (९/३३) कहते हैं— 'अनित्यं असुखं लोकम्'—यह जगत अनित्य तथा दुखमय है तो भी इसका बोध हमें नहीं रहता। हम सोचते हैं कि बड़े मजे में हैं। अपने दुख के विषय में हम सजग नहीं हैं। ठाकुर कहते हैं—तालाब में धीवरों ने जाल फेंका है। उस जाल में फँसी हुई कुछ मछलियों को तो होश ही नहीं है कि वे जाल में फँस गयी हैं। वे जाल समेत मुँह को मिट्टी में दबाये पड़ी रहती हैं और सोचती हैं—हम बड़े मजे में हैं। परन्तु वे जानती नहीं कि थोड़ी देर बाद ही मछुवारा उन्हें घसीटकर बाहर निकालेगा और उनके प्राण निकल जाएंगे। उनमें मुक्ति की इच्छा है ही नहीं। अतः मुक्ति की इच्छा न रहे, तो गुरु बनाने से भी कोई फल नहीं होता। इसीलिए बन्धन का बोध हमें सर्वदा जाग्रत रखना होगा तथा शुश्रुषु—सेवापरायण होकर विनीत भाव से गुरु के पास जाना होगा। गीता में कहा गया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४/३४)

तत्त्वदर्शी श्रीगुरु के चरणों में प्रणाम करके, प्रश्नों तथा उनकी सेवा के द्वारा वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

गुरु की प्रत्यक्ष सहायता के बिना भी ब्रह्मज्ञान हो सकता है। परन्तु सामान्य नियम के अनुसार गुरु से शिक्षा प्राप्त करना ही शिष्य के लिए अधिक कल्याणकारी है। क्योंकि बहुधा मार्ग से भटक जाने की सम्भावना रहती है। इससे बचने के लिए सच्चे पथ-प्रदर्शक की जरूरत होती है। किन्तु गुरु के आचार-व्यवहार पर ज्यादा सिर न खपाकर, उनके उपदेशों का पालन करना तथा उनके आदर्श के अनुरूप जीवन बिताना—यही शिष्य की मुक्ति का उपाय है।

साधना-काल में गुरु जैसा उपदेश दें, शिष्य को उन्हीं का पालन तथा गुरु की सेवा करते हुए क्रमशः लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहिए। इससे मन के भीतर की सारी अशुद्धियाँ तथा बुरे भाव धीरे-धीरे दूर हो जायेंगे। ऐसा करते करते मन जब शुद्ध-पवित्र होगा, तब वही इष्ट-स्वरूप बन जायगा। फिर बाह्य गुरु की आवश्यकता नहीं रह जायेगी। तब अपने भीतर से ही समस्त प्रेरणा एवं प्रश्नों के उत्तर आने लगेंगे। यही है मन का गुरु होना। तब गुरु, कृष्ण तथा वैष्णव एक हो जायगे। कृष्ण अर्थात् इष्ट, गुरु अर्थात् इष्ट-पथ में सहायक या उपदेशक तथा वैष्णव अर्थात् साधक—जो गुरु के उपदेश को धारण करने का प्रयत्न करता है। साधना-मार्ग में क्रमशः आगे बढ़ते बढ़ते जब मन शुद्ध हो जाता है, तब ऐसा बोध होने लगता है कि जो साधक है, वही उपदेशक है और वही इष्ट भी है। सभी मनुष्यों में ये गुरु सुप्त रूप से विद्यमान हैं। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्' (गीता, ५/१५)। मन अशुद्ध होने के कारण वे मात्र ढँके हुए हैं। मन के शुद्ध होते ही वे प्रकट हो उठेंगे। परन्तु इसके लिए विचारशील मन की आवश्यकता है, क्योंकि संसार में विषयों के प्रति आकर्षण सहज-स्वाभाविक है। और साथ ही यदि विचार किया जाय कि ये भोग आदि अनित्य हैं, इनके द्वारा मेरी पारमार्थिक उन्नति नहीं, बल्कि उसमें बाधा ही होगी। तब धीरे-धीरे इन विषयों के प्रति आसक्ति घट जायेगी। आसक्ति के दूर होते ही ज्ञान प्राप्ति की स्पृहा में वृद्धि होगी और तब ज्ञान-सूर्य का उदय होगा।

कोई कोई कहते हैं, 'आप ही कर दीजिए।' कोई दूसरा इसे नहीं कर सकता। अपनी साधना स्वयं ही करनी होगी। गीता (६/५) में कहा गया है—उद्धरेत आत्मनाऽत्मानम्—अपना उद्धार स्वयं ही करना होगा। मन के शुद्ध होने तक ही गुरु सहायता कर सकते हैं। मन शुद्ध होते ही आन्तरिक गुरु का प्रकाश धीरे-धीरे प्रकट हो उठेगा। तब सारे संशय दूर हो जायेंगे और अज्ञान-ग्रन्थि छिन्न

हो जायेगी—**भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यते सर्वसंशयाः** (मुण्डकोपनिषद्, २/२/८)।

किसी विषय में संशय होने पर समाधान हेतु मैं स्वामी सारदानन्दजी महाराज के पास जाया करता था। एक बार ऐसे ही एक प्रश्न पूछने पर वे बोले, "सब कुछ क्या मुझसे ही पूछना होगा? भीतर से उत्तर मिलेंगे।" ठाकुर कहा करते थे, "गुरु, कृष्ण, वैष्णव—तीनों की दया हुई, तो भी एक अर्थात मन की दया न होने पर जीवन ही व्यर्थ हो जाता है। यदि यह मन स्थिर तथा शान्त नहीं हुआ, अशुद्ध विचार नहीं गये, तो हजारों उपदेशों से भी कुछ नहीं होगा।"

अपने गुरु को दूसरे के गुरु से पृथक नहीं समझना चाहिए। जो मेरे गुरु हैं, वे ही सबके गुरु हैं, ऐसा उदार भाव आवश्यक है। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे—"मनुष्य गुरु नहीं हो सकता। भगवान की इच्छा से ही सब कुछ हो रहा है।" (वचनामृत, १/१६०) और भी कहा है, "एकमात्र सच्चिदानन्द ही गुरु हैं। उन्हें छोड़ कोई उपाय नहीं है। वे ही एकमात्र भवसागर के कर्णधार हैं।"

गुरुगीता (३७) में है—**मन्नाथः श्रीजगन्नाथः मद्गुरुःश्रीजगद्गुरुः**— मेरे इष्ट ही जगत के इष्ट और मेरे गुरु ही जगद्गुरु हैं। वे सर्वव्यापी हैं और सर्वदा भीतर से प्रेरणा देते रहते हैं—सर्वदा ऐसी भावना जाग्रत रखनी होगी। अहंबुद्धि चले जाने पर ही ऐसी भावना दृढ़ होती है। प्रश्न उठता है कि क्या जन्म-जन्मान्तरों में एक ही गुरु होते हैं? नित्य गुरु ही सर्वत्र विद्यमान रहते हैं और एक बार उनका अनुभव कर लेने पर सारे शोक-दुख चले जाते हैं। कठोपनिषद् में है—

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महन्तं विभूमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥
(१/२/२२)

जो स्वयं शरीरधारी नहीं है, परन्तु समस्त जीवों के शरीर-मन में विराजमान है और परिवर्तनशील जगत में रहकर भी नित्य अपरिवर्तनशील है, उस सर्वव्यापी, बहुरूप में अवस्थित आत्मा को जानकर मनुष्य शोकरहित हो सकता है।

परन्तु जन्म-जन्मान्तर में मनुष्य गुरु एक ही होंगे, ऐसी बात नहीं। क्योंकि उनकी भी तो जन्म मृत्यु होती है। तथापि साधक की साधना के कुछ संस्कार रह जाते हैं अर्थात् वह गुरु के उपदेशानुसार साधना करके जहाँ तक पहुँच जाता है, उसका संस्कार रह जाता है और उसी के साथ उसका आगामी जन्म होता है। इस प्रकार साधक आध्यात्मिक जीवन में क्रमशः अग्रसर होता रहता है। गीता (७/१९) में है—**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते**—अनेक जन्मों की साधना के फलस्वरूप साधक ईश्वर का शरणागत होता है। भगवत् विषय के ज्ञाता सिद्ध गुरुप्राप्ति अति दुर्लभ है और सिद्ध गुरु मिलने पर भी साधक साधना के लिए उत्साही न हो तो उसकी सिद्ध गुरु की प्राप्ति निष्फल होती है। कठोपनिषद् (१/२/७) में आचार्य तथा शिष्य के सम्बन्ध में कहा गया है—**आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः**। आचार्य 'आश्चर्यो वक्ता' होंगे, क्योंकि व ब्रह्म के विषय में उपदेश देते हैं। आश्चर्य अर्थात् असाधारण—जो साधारण नहीं, बल्कि दुर्लभ हैं। और इस ब्रह्मविद्या का उपदेश सुनकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेवाले शिष्य को भी कुशल होना चाहिए कुशल अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सके तथा जिसमें गुरु के निर्देशों को हृदयंगम करने के लिए धारणा-शक्ति हो। और 'आश्चर्यो ज्ञाता' ऐसा व्यक्ति भी दुर्लभ है, जिसने कुशल गुरु से उपदेश प्राप्त कर तत्त्वज्ञान हासिल किया हो। यहाँ आश्चर्य का अर्थ है—दुर्लभ तथा कुशल—ऐसा व्यक्ति जो उपदेश ग्रहण करने में समर्थ हो।

तत्त्वज्ञान रहित व्यक्ति यदि उपदेश दे तो वह केवल उपदेश मात्र ही होगा। **अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः**—जैसे एक अन्धा एक दूसरे अन्धे को

पथ दिखाये (कठोपनिषद्, १/२/५)। जो उपदेश दे रहा है और जिसे उपदेश दिया जा रहा है—दोनों ही अन्धे हैं। वचनामृत में श्रीरामकृष्ण कहते हैं—यदि सद्गुरु हो, तो जीव का अहंकार तीन ही पुकार में दूर हो जाता है। और यदि गुरु कच्चा हुआ, तो गुरु की भी दुर्दशा होती है और शिष्य की भी, शिष्य का अहंकार दूर नहीं होता और न उसके भव-बन्धन की फाँस ही कटती है। कच्चे गुरु के पल्ले पड़ा, तो शिष्य मुक्त नहीं होता।

मेंढक और कौड़ियाले साँप का उदाहरण देकर ठाकुर कहते हैं, "एक दिन मैं पंचवटी के निकट झाऊतले जा रहा था। एक मेंढक की आवाज सुनाई दी—जान पड़ा कि साँप ने पकड़ा है। काफी देर बाद लौटने लगा तब भी उस मेंढक की पुकार जारी थी। बढकर देखा तो दिखाई दिया कि एक कौड़ियाल साँप उस मेंढक को पकड़े हुए है—न छोड़ सकता है, न निगल सकता है। उस मेंढक की भी भवव्यथा दूर नहीं हो रही है। तब मैंने सोचा कि यदि कोई असल साँप पकड़ता तो तीन ही पुकार में इसको चुप हो जाना पडता। इसे कौड़ियाले ने पकड़ा है, इसीलिए साँप की भी दुर्दशा है और मेंढक की भी।" (वचनामृत, १/१९०-९१) अर्थात् योग्य गुरु यदि नहीं मिले, तो दुखों का अन्त नहीं होगा, दुख लगे ही रहेंगे और यदि शिष्य योग्य नहीं है तो वह गुरु के उपदेशों को ठीक से धारणा भी नहीं कर सकता।

तब उपदेश कल्याणकारी न होकर, हानिकारी होने की सम्भावना हो सकती है। विरोचन के प्रसंग में इसका प्रमाण मिलता है। एक बार प्रजापति ने कहा— य आत्माऽपहत पाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः। (छांदोग्य, ८/७/१)—जो व्यक्ति इस आत्मा को पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्य-संकल्प रूप से जानता है, वह सम्पूर्ण लोक और समस्त काम्य वस्तुओं को प्राप्त कर लेता है। इन्द्र और विरोचन दोनों आत्मज्ञान की इच्छा से समिधा लेकर प्रजापति के पास पहुँचे और बत्तीस वर्ष तक उनसे ब्रह्मचर्य-पालन कराने के पश्चात गुरु ने पूछा—किमिच्छन्तो अवास्तमिति तौ (छा. उ, ८/७/३)। दोनों ने आत्मविद्या की याचना की। प्रजापति ने उपदेश देते हुए कहा—य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति (छा., ८/७/४)—यह जो पुरुष नेत्रों में दिखाई देता है, यही आत्मा है। और भी कहा—एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति—यह अमृत, अभय और यही ब्रह्म है।

प्रजापति ने एक पात्र में जल लेकर पूछा—इसमें क्या देख रहे हो? उन्होंने उत्तर दिया—हम इसमें अपने सम्पूर्ण शरीर—नख, केश आदि का प्रतिबिम्ब देख रहे हैं। प्रजापति ने कहा, 'यही अमर, अभय आत्मा है, यही ब्रह्म है।' आत्मा को जान लिया, ऐसा समझकर वे दोनों चले गये। 'नेत्रान्तर्गत पुरुष' कहकर प्रजापति चैतन्य का स्वरूप बताना चाहते थे, परन्तु उसका मर्मार्थ समझे बिना ही इन्द्र तथा विरोचन को जाते देख प्रजापति हँसने लगे। विरोचन ने जाते जाते निष्कर्ष निकाला कि आँख में मनुष्य के देह की परछाई पड़ती है और जल में भी मनुष्य के देह की ही छाया पड़ती है। अतः यह देह ही आत्मा है। इस लोक में देहरूप आत्मा की पूजा-सेवा करने से परलोक पर विजय पायी जा सकती है। विरोचन ने लौटकर असुरों के बीच इसी विद्या का प्रचार किया—अपने शरीर को पुष्ट और रोगमुक्त करो; इसी से तुम अमृत या अभय के अधिकारी हो जाओगे। पर इन्द्र ने विचार किया कि देह में परिवर्तन के साथ-साथ प्रतिबिम्ब भी परिवर्तित होता है, अतः देह आत्मा नहीं हो सकती। आत्मा तो अजर, अमर, अपरिवर्तनीय है। इसलिए इन्द्र ने फिर प्रजापति के पास जाकर उपदेश के लिए प्रार्थना की। इस प्रकार इन्द्र सच्चा आत्मज्ञान

प्राप्त करके देवताओं के पास लौट गए। विरोचन आत्मज्ञान से वंचित रह गये। वे तथा असुरगण शरीर को ही लेकर रह गये।

अयोग्य शिष्य की हालत ऐसी ही होती है। किसी भी विद्या की प्राप्ति में योग्यता आवश्यक है। गुरु भी शिष्य में श्रद्धा तथा निष्ठा देखकर करुणावश उसे शिक्षा देकर ऊपर उठाने का प्रयत्न करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (६/८/७) में गुरु कहते हैं—स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो— यह सूक्ष्म वस्तु ही जगत का स्वरूप है, यही सत्य वस्तु है, यही आत्मा है, इसी को जानो; हे श्वेतकेतो, तुम वही हो। इस प्रकार गुरु उद्दालक विभिन्न दृष्टान्त देकर आरुणि श्वेतकेतु को समझाते हैं। श्वेतकेतु बारम्बार कहते हैं—मुझे फिर समझाइये। तब गुरु ने कहा—श्रद्धत्स्व सोम्येति—हे सौम्य, श्रद्धा का आश्रय लो। (६/१२/२) गीता में श्रद्धा के विषय में कहा गया है—श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति—श्रद्धावान अर्थात् आस्तिक्यबुद्धिसम्पन्न, आलस्य-रहित, एकनिष्ठ तथा जितेन्द्रिय व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है; ज्ञान होने पर परम शान्ति प्राप्त होती है। अब उसके विपरीत आचरणवाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में कहा गया है अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः—अज्ञानी, श्रद्धाहीन तथा संशयी व्यक्ति विनाश को प्राप्त करता है। शंकालु के लिए इहलोक, परलोक तथा सुख—कुछ भी नहीं है। (४/३९-४०) श्रद्धा के बिना, केवल तर्क-विचार के द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। श्रुति कहती है—नैषा तर्केण मतिरापनेया—इसे तर्क से नहीं प्राप्त कर सकते। और न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः—यदि कोई अयोग्य व्यक्ति आत्मज्ञान का उपदेश दे भी, तो वह किसी काम का नहीं होता। (कठ., १/२/८, ९) अतएव सद्गुरु की कृपा पाने की योग्यता अर्जित करनी होगी और जी-जान से प्रयत्न करना पड़ेगा।

श्रीरामकृष्ण की एक उक्ति है—मानव-गुरु मंत्र देते हैं कानों में और जगद्गुरु देते हैं प्राणों में। मानव-गुरु स्वयं भी अपूर्ण है। वे प्रचलित प्रथा के अनुसार केवल उपदेशों के द्वारा शिष्य की सहायता कर सकते हैं। इसी को ठाकुर कानों में मंत्र देना कहते हैं। और जगद्गुरु प्राणों में देते हैं अर्थात् अन्तर में प्रेरणा जाग्रत करते हैं। इसके लिए भाषा या अनुष्ठान आदि किसी बाह्य सहायता की भी आवश्यकता नहीं होती। वे अनायास ही हृदय में प्रेरणा जगा देते हैं। यही सच्ची उपलब्धि है। कभी-कभी मनुष्य-गुरु का उपदेश ठीक-ठीक ग्रहण करना सम्भव नहीं होता। फिर वे अन्तर में प्रेरणा भी नहीं दे सकते। परन्तु जगद्गुरु अर्थात् अन्तर्यामी जो सभी को प्रेरणा दे रहे हैं, वह अमोघ है, वह प्रेरणा कभी निष्फल नहीं हो सकती।

इस प्रकार से विवेचना करने पर हम पाते हैं कि उपनिषदोक्त श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु ही धर्मपिपासु शिष्य की साधना को सार्थक रूप देने में समर्थ हैं। दूसरे सामान्य गुरुओं में से कोई-कोई शिष्य की साधना में आंशिक रूप से सहायता कर सकते हैं। किन्तु प्रायः ही शिष्य की साधना को सार्थक नहीं कर सकते।

श्रीरामकृष्ण के शिष्यगण उन्हें एकाधार में गुरु तथा इष्ट कहते थे। इसलिए उनकी परम्परा में कोई भी गुरु स्वयं को गुरु नहीं मानते। वे अपने को श्रीरामकृष्ण की साधना-प्रणाली के धारक और वाहक मात्र मानते हैं।

प्रत्येक साधक को स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर प्राप्ति ही उसकी साधना का लक्ष्य है। यह अत्यन्त कठिन है, पर असम्भव नहीं। अतः गुरु के निर्देशानुसार धैर्यपूर्वक साधना करते रहना होगा। आन्तरिक भाव से करते करते उसमें सार्थकता

अवश्य आयेगी। किन्तु किसी निर्दिष्ट समय के भीतर साधना में पूर्णता सम्भव नहीं है। निष्ठा रहे तो साधक एक-न-एक दिन भगवत्कृपा से अवश्य ही लक्ष्य तक पहुँचेगा। आन्तरिक प्रयास कभी विफल नहीं होता। भगवदीता (९/३१) में कहा है —कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति— हे अर्जुन, जान रखना कि मेरे भक्त का विनाश नहीं होता। इसी विश्वास को पकड़कर आन्तरिक रूप से प्रयत्न करते रहना होगा, तभी लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव होगा।

*

प्रश्नोत्तर जनवरी, १९९२

कल्याणीय अभय,

तुम्हारा पत्र प्राप्त हुआ।

तुम्हारे प्रश्न बहुत अच्छे हैं और इनके उत्तर परम स्थिरभाव से मनन कर समझने का प्रयास करो।

आत्मा का वर्णन नहीं किया जा सकता। इसे स्वरूपतः निर्गुण कहा जाता है, अर्थात् भिन्न-भिन्न गुण जिन्हें हम जानते हैं, उनके द्वारा विशिष्ट कर आत्मा को विकारी नहीं कहा जा सकता।

आत्मा को सर्वव्यापक कहा जाता है, क्योंकि सभी वस्तुओं में शुद्ध प्रकाशरूप से आत्मा को जाना जा सकता है, इसी से आत्मा सर्वव्यापक है। ऐसा नहीं होने पर सभी वस्तुएँ मिथ्या हैं। इसी से आत्मा को सभी वस्तुओं से व्यापक अर्थात् सववस्तु रूप मिथ्या उपाधि के साथ उन सबके प्रकाश रूप में जाना जाता है।

आत्मा को ज्ञानवान नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि ज्ञानरूप धर्म, जिसका अस्तित्व और अनस्तित्व है, उत्पत्ति और विनाश है, वह आत्मा का स्वरूप या आत्मा से संश्लिष्ट नहीं हो सकता। इसीलिए आत्मा को विचार करनेवाला नहीं कहा जा सकता। तुमने ठीक ही कहा है कि विचार करना ज्ञानी के लिए सम्भव नहीं है, क्योंकि अज्ञान के नहीं रहने पर विचार नहीं हो सकता।

ज्ञान योग में कहा गया है कि आत्मा अहंकार नहीं है। आत्मा—मन, बुद्धि आदिरूप अन्तःकरण नहीं है। जो इस अन्तःकरण को प्रकाशित करते हैं, वे ही आत्मा हैं। एक रूप में आत्मा—मैं वस्तु की सभी अवस्थाओं में परिव्याप्त है। यह जो मैं वस्तु है वह मेरे साथ सभी अवस्थाओं में अभिन्न रूप से प्रकाशित होती है। इसी से कभी हमलोग कहते हैं—मैं ज्ञानी हूँ, मैं अज्ञानी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं निर्धन हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इत्यादि। यह ज्ञान-अज्ञान, धनवत्ता-निर्धनता, सुखित्व, दुखित्व आदि आत्मा के साथ संश्लिष्ट रूप से प्रकाशित होते हैं। इन सब को आत्मा की उपाधि कहते हैं। स्वरूपतः इन सब की कोई सत्ता नहीं है। ये सब एक प्रकाशधर्मी आत्मा के साथ अभिन्न रूप में संश्लिष्ट होकर प्रकाशित होते हैं। अतएव, इन सब के द्वारा युक्त होकर इन सबसे अभिन्न रूप में आत्मा विभिन्न रूप धारण करती है, ऐसा हमलोग सोचते हैं। दरअसल इन उपाधियों को हटाकर अन्त में जो अवशेष रहता है, वही आत्मा है। ज्ञान योग के द्वारा इस आत्मा को जानने का उपाय है, सारी उपाधियों से अलग कर उसके स्वरूप का चिन्तन करना। यह विचार या चिन्तन जो करता है वह मन रूप उपाधि से युक्त आत्मा है। जब मन आदि को उपाधि से अलग किया जाता है, तब आत्मा का जो स्वरूप है वह चिन्तन का विषय नहीं होता है तथा विपरीत अर्थात्—विषय का अनुभवकर्ता भी नहीं होता। इसी से आत्मा को स्वरूपतः वाक्य-मन के अगोचर कहा गया है।

अहंकार को आत्मा से पृथक् करने से ही अहंकार का नाश होता है। कारण आत्मा को छोड़कर मन आदि उपाधियों का अस्तित्व या प्रकाश नहीं रहता। अतएव, जब तक 'मैं' है, अर्थात् अन्तःकरण से युक्त आत्मा है, तब तक अहंकार भी है।

जब मैं कहता हूँ कि मैं आत्मा को भूल गया हूँ तब इसका अर्थ यह होता है कि सभी उपाधियों से मुक्त शुद्ध स्वरूप आत्मा को मैं नहीं जानता। अतएव, जब मैं अज्ञान की उपाधि से मुक्त होऊँगा, तब मैं मुक्त हो गया—यह कहना भी गलत होगा, क्योंकि आत्मा के मुक्त अर्थात् समस्त उपाधियों से शून्य होने पर उसे पुनः मैं अर्थात् उपाधियुक्त रूप नहीं कहा जाएगा; अतः उसे जानने या कहने वाला कोई रहा नहीं। कारण यह है कि उपाधि के बिना उसका वर्णन संभव नहीं है। तथापि, उसका नाश हो गया, यह बात नहीं कही जा सकती—क्योंकि नाश का अर्थ ही है रूपान्तर। यह सब रूपान्तर ही उपाधि है और आत्मा से पृथक् इन उपाधियों की सत्ता ही नहीं है।

जितने गंभीर भाव से चिन्तन करोगे, उतना ही यह विषय स्पष्ट से स्पष्टतर होगा। श्री श्री ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) तुम्हें शुभ बुद्धि दें जिससे उनके स्वरूप की सही-सही उपलब्धि कर सको।

सदैव मेरी शुभेच्छा तुम्हारे साथ है। इति.

शुभाकांक्षी,
(स्वामी भूतेशानन्द)

(पृष्ठ ८६ का शेष)

इसीलिए सभी इसे जानते हैं। ध्येय वस्तु को छोड़कर मन दूसरे विषय का चिन्तन करता है। तब मन को पुनः ध्येय वस्तु पर निविष्ट करने की चेष्टा करनी पड़ती है। 'कषाय' माने रंजित होना। मन भोगवासना अथवा विषय-वासना के द्वारा रंजित रहने पर उसी विषय की ओर आकृष्ट होता है। विषय के प्रति मन जब भोग-वासनावश आकृष्ट होता है तब मन उस संबंध में सजाग रहता है। इसीलिए कहा है—'सकषायं विजानीयात्'। और एक विघ्न है; वह है 'रसास्वादन'। साधक थोड़ा अग्रसर होकर साधना का विन्दुमात्र आनन्द पाकर उसी आनन्द का अनुभव करने में लग जाता है। किन्तु मन को शासित करके समझाना होगा कि मेरा उद्देश्य और भी बहुत दूर है। जैसे ठाकुर की लकड़हाड़े की आगे बढ़ने की कहानी। तथा 'समप्राप्त' होने पर मन को फिर विचलित नहीं करना चाहिए अर्थात् जिस उन्नत अवस्था में मन उठा है उसको वहीं पकड़कर रखने की चेष्टा करनी पड़ती है।

किन्तु हमें निराश होने का कोई कारण नहीं है। हमलोग जितनी ही चेष्टा, सत्प्रचेष्टा क्यों न करें, वह जितनी ही थोड़ी क्यों न हो, वह व्यर्थ नहीं जाती है, वही जमा रहती हैं। आदर्श की ओर, उद्देश्य की ओर यदि एक छोटा कदम भी बढ़ायें तो उतना दूरत्व तो कम गया। यद्यपि यह बात सही है कि मन में तीव्र व्याकुलता नहीं आने तक हमलोग जो भी करें कुछ भी, कुछ भी है। किन्तु ऐसा होने पर क्या चेष्टा छोड़ देनी होगी? नहीं, जब तक ऐसी व्याकुलता नहीं आती है तब तक कोशिश करती रहनी पड़ेगी। हमलोगों की थोड़ी-सी भी कोशिश व्यर्थ नहीं जाती है, व्यर्थ नहीं जायेगी, जमा रहेगी। भविष्य में जब जीवन में घात-प्रतिघात आयेगा तो वह लघु किन्तु सच्चेष्टा ही हमारी रक्षा करेगी। जितनी ही छोटी चेष्टा क्यों न हो, कोई भी सच्चेष्टा भूलनी नहीं चाहिए। उतना भी याद करने पर दुर्योग में, विपद से मन में बल आता है। नवानुराग का वैराग्य एवं चेष्टा इत्यादि भविष्य जीवन में याद करनी चाहिए। तब लगता है—आहा! मन की कैसी अवस्था थी! कितना आकर्षण था! कितना वैराग्य था!

श्रीरामकृष्ण मठ

मयलापुर, चेन्नई-६०० ००४

फोन : ४९४१२३१, ४९४१९५९ फैक्स : ४९३०५८९

Website : www. Sriramakrishna Math. org

email srkmath @ vsnl.com

८ जनवरी, १९९९

प्रिय बन्धु,

स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेशों के प्रत्येक अध्येता के लिए विवेकानन्दार इल्लम एक पुनीत भवन तथा तीर्थस्थान है। आपको विदित होगा ही कि सौ वर्ष पूर्व फरवरी १८९७ ई० में स्वामी विवेकानन्द चेन्नै के आइस हाउस या कैसल कर्नन नामक इसी बँगले में पधारे थे। उन्होंने यहाँ पूरे नौ दिन निवास करते हुए बहुत-से आगन्तुकों से भेंट की, भजन गाये, प्रार्थना की और ध्यान किया। यह स्थान अब भी उनकी अदृश्य तथा दिव्य उपस्थिति से स्पन्दित है।

उन्होंने इसमें ६ से १४ फरवरी तक निवास किया तथा भारत के पुनर्निर्माण हेतु भावोत्तेजक भाषण दिये, जो अब 'भारतीय व्याख्यान' नामक पुस्तक में उपलब्ध हैं। फिर १८९७ ई० में स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई तथा एक महान सन्त स्वामी रामकृष्णानन्द के तत्त्वावधान में यहाँ रामकृष्ण मठ की स्थापना हुई, जो १९०६ ई० तक इसी पुनीत भवन में चलता रहा। इस प्रकार यह भवन दक्षिण भारत में रामकृष्ण संघ के प्रथम केन्द्र का निवास होने के साथ ही एक ऐतिहासिक स्थल भी है, जहाँ से स्वामीजी ने पूरे राष्ट्र को सन्देश दिया।

हम यहाँ एक स्थायी प्रदर्शनी बनाना चाहते हैं, जिसमें स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा सन्देश और भारतीय संस्कृति के उच्च तत्त्वों को प्रदर्शित किया जा सके। हमारी अभिलाषा है कि इसे एक ऐसा केन्द्र बनाया जाए, जहाँ से स्वामीजी के जीवनदायीन सन्देश को पूर्णाकार चित्रों, सुन्दर तैलचित्रों, मॉडलों, वीडियोग्राफ और फिल्मों द्वारा प्रचारित किया जाए।

यह भवन १८४२ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के दौरान निर्मित हुआ था और सबसे पहले तो इसका समुचित जीर्णोद्धार आवश्यक है। इस परियोजना में लगभग १.५ करोड़ रुपयों की लागत आयेगी। इसका कार्य शीघ्र ही आरम्भ होने जा रहा है, अतः आपसे अनुरोध है कि इस पुण्य कार्य में उदारतापूर्वक सहयोग करके आप श्रीरामकृष्ण के आशीर्वाद तथा विवेकानन्द-अनुरागियों की कृतज्ञता के भाजन बनें। इस प्रकार के दान आयकर से मुक्त हैं। चेक या ड्राफ्ट कृपया 'रामकृष्ण मठ, चेन्नै' के नाम से भेजें।

मानवता की सेवा में आपका

स्वामी गौतमानन्द

डाक पंजीयित संख्या - सी.एच.पी. १४-८३

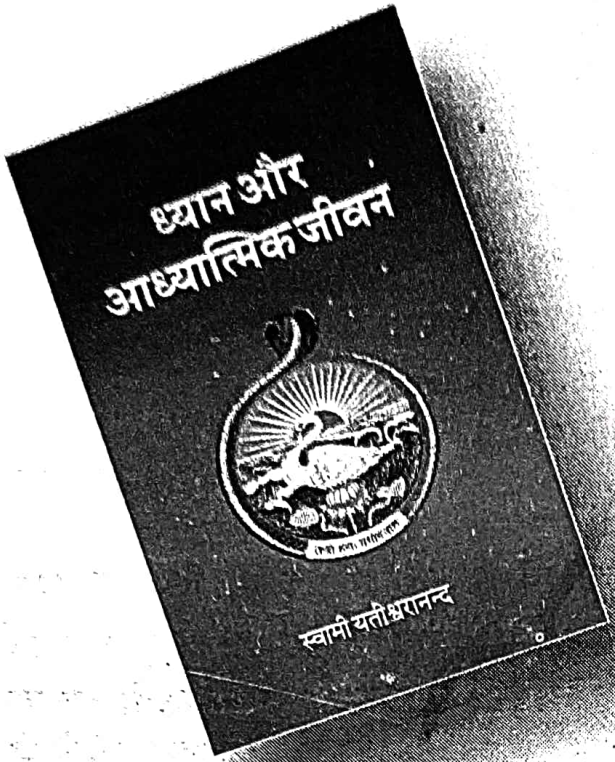

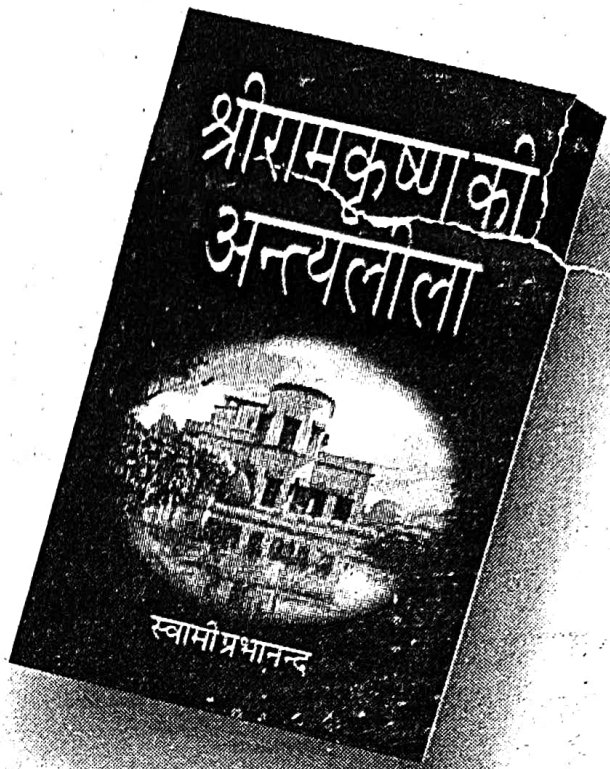

कुछ संग्राह्य पुस्तकें

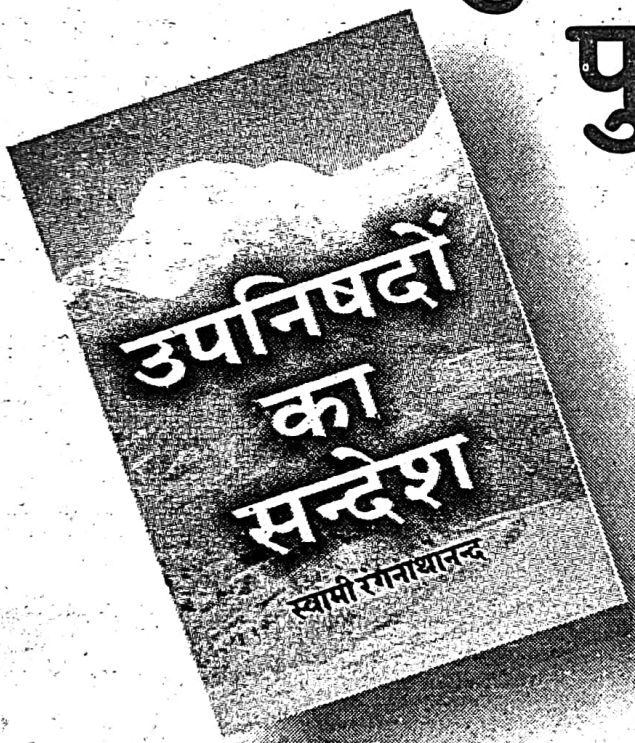

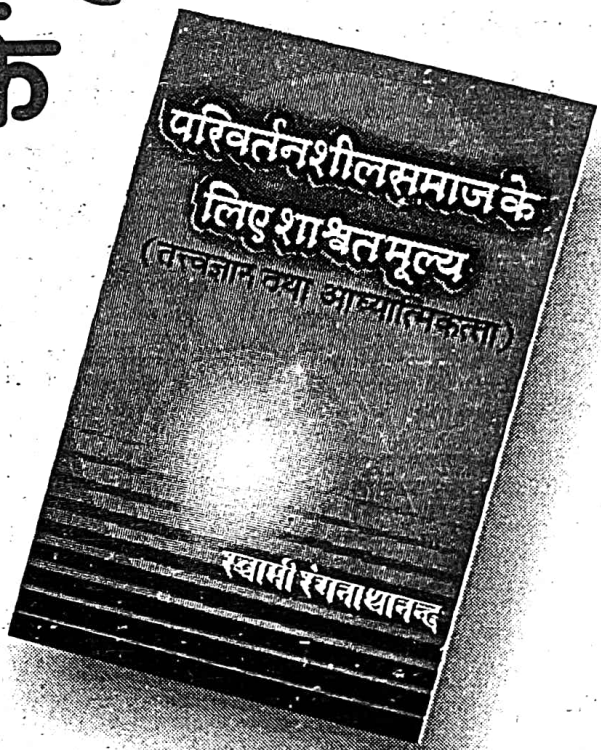

अधिक जानकारी के लिए लिखें :

रामकृष्ण मठ (प्रकाशन विभाग) धन्तोली, नागपुर (महाराष्ट्र) ४४० ०१२

ीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं शिवशक्ति प्रिण्टर्स, सैदपुर, पटना-४ में मुद्रि
सम्पादक : डॉ केदारनाथ लाभ